रजनीशमतखण्डनम्

क्या!

सम्भोग से समाधि

धर्म सम्राट श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

संपादक

श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती

(वेदान्ती स्वामी)

क्या सम्भोग से समाधि ?

धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज
के
विचारों का संकलन

संकलनकर्त्ता :

श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती

'श्री वेदान्ती स्वामी'

श्री करपात्री धाम, केदारघाट
वाराणसी (उ० प्र०)

सम्पादकीय

'नियन्त्रित अग्नि और नियन्त्रित बिजली ही लाभदायक होती है। अनियन्त्रित अग्नि या बिजली सभी सर्वनाश के हेतु हैं''—यह सर्वविदित है। ''सर्वत्र अवैध काम की ही निन्दा है, वैध काम तो परमेश्वर का स्वरूप है। संसार में बड़े-बड़े महापुरुष, महादेवियाँ व्यवहारत: काम से उत्पन्न होते हैं, इसमें किसी का मतभेद नहीं, किन्तु वह सब वैध काम से नियन्त्रित-संयत काम का ही परिणाम है। अतएव काम-शिक्षा आवश्यक नहीं, आवश्यकता है शास्त्रीय विधि-निषेध के ज्ञान की और उसके पालन की। उसी से उत्तमोत्तम महापुरुषों का जन्म हो सकेगा।''—पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज की उपर्युक्त पंक्तियों में 'काम' के सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा का स्पष्ट दिग्दर्शन है।

आचार्य रजनीश की निम्नलिखित पंक्तियों से उनके विचार भी स्पष्ट परिलक्षित होते हैं : ''परिपूर्ण हृदय से काम की स्वीकृति होने पर काम से मुक्ति होगी। जितनी अस्वीकृति होगी, उतने बँधते चले जायेंगे।''

पर इसका जवाब कितना सही है, जिसके आज भी भारतीय इतिहास और पुराण साक्षी हैं।

''काम की परिपूर्ण हृदय से स्वीकृतिवालों की कभी भी कमी नहीं रही। ऐल पुरूरवा ने उर्वशी के काम को पूर्ण हृदय से स्वीकार

कर लिया था। दुष्यन्त, ययाति आदिकों ने भी अनन्त वैभवों के साथ पूर्णहृदय से काम को स्वीकृत किया। इन्द्रादि देवता विविध वैभवों के साथ अमृत-पान करते हुए नन्दनवन, कामधेनु, चिन्तामणि की उपस्थिति में रम्भा, उर्वशी, इन्द्राणी प्रभृति ललनाओं के काम में परिपूर्ण हृदय से ही प्रवृत्त होते हैं। दरिद्र मर्त्यलोक में तो वह वैभव, वह सामग्री, वह सौन्दर्य सम्भव नहीं। वैसी सम्भोग-सामर्थ्य भी आज उपलब्ध नहीं। किन्तु उन बड़े-बड़े अनुभवियों को भी कहना पड़ा कि जैसे घृत की आहुति से अग्नि का निर्वाण सम्भव नहीं, वैसे ही काम-सम्भोग से तृप्ति भी सम्भव नहीं, बल्कि उससे कामाग्नि और बढ़ती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

काम आसक्ति और वासना से समन्वित होता है, जब कि प्रेम शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र है। उसमें लौकिक स्वार्थ की गन्ध नहीं होती। **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की भावनाओं से वह आप्लावित होता है और जन्म-जन्मान्तर की साधनाओं के फलस्वरूप ही उसका जीवन में पूर्ण प्राकट्य होता है। यह प्राकट्य ही व्यक्ति को संसार के बन्धनों से मुक्त करता है। इसीलिए प्रेम का प्राकट्य या तो आत्मा में या परमात्मा में ही सम्भव है।

काम प्राणिमात्र का एक स्वभाव है, जो बिना किसी प्रयास और शिक्षा के ही संसार के समस्त प्राणियों को प्राप्त है। इसीलिए उसकी कोई उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। भारतीय शास्त्रकारों ऋषि-महर्षियों ने उसे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना है। मानव के सर्वविध कल्याण के निमित्त कर्त्तव्य और अधिकार की दृष्टि से जहाँ चार-प्रकार के पुरुषार्थों का विवेचन किया गया वहीं काम को भी नहीं छोड़ा जा सका। 'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष' से चार ही पुरुषार्थ हैं; जिनमें मनुष्यका परम कर्त्तव्य और उद्देश्य सन्निहित हैं। इससे अतिरिक्त संसार

से कुछ बचता ही नहीं। जो कुछ भी है, वह इन चतुर्विध पुरुषार्थों में ही सीमित है। फिर आचार्य रजनीशजी का यह कहना कि 'साधु, सन्तों, ऋषि-महर्षियों एवं शास्त्रकारों ने काम की निन्दा की, काम को गालियां दीं और इसे दूषित बताया' यह कहाँ तक सही है?

कांचन-कामिनी, यश-वैभव तथा धन-सम्पत्ति संसार की लौकिक उपलब्धियाँ काम ही तो हैं, जिनका महत्त्व हमारे जीवन में स्पष्ट है। फिर इनकी बुराई या निन्दा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? पर हाँ, इतना अवश्य है कि भारतीय मनीषी और शास्त्रकार एक अनियन्त्रित समाज का सृजन करने में रुचि नहीं रखते। वे काम को नियन्त्रित अवश्य करना चाहते हैं, जो व्यक्ति के कल्याण का साधन बन सके।

प्रस्तुत पुस्तक में ही अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी की ये पंक्तियाँ इसे और भी स्पष्ट कर सकेंगी—

"काम और सेक्स को जानने या समझने की मनाही कहीं भी शास्त्रों में नहीं है। काम ही क्या, एक नगण्य तृण का भी विचार करना और उसके तत्त्व को समझना परमात्म-ज्ञान में उपयोगी है। किन्तु ज्ञान और समझदारी की ऊँची बातें करके भी स्त्री-पुरुष के बीच की दीवार मिटाना, सबको नंगा रहकर परस्पर व्यवहार की शिक्षा देना कभी लाभदायक नहीं हो सकता। इससे ज्ञान थोड़ा होगा, अज्ञान ज्यादा बढ़ेगा। मनुष्य का जन्म काम से होता है, यह सभी लोग जानते हैं। इतना ही क्यों, **सोऽकामयत** के अनुसार परमेश्वर भी काम से ही प्रपञ्च का निर्माण करता है। ऋषि मुनि काम का निषेध नहीं करते, इसे नियन्त्रित करके इससे शक्ति प्राप्त करते हैं।"

और तो और, भारतीय साहित्यकारों ने शृङ्गार और काम की जो गाथाएँ यहाँ के साहित्य में भरी हैं तथा विषय-वस्तु के रूप में जो प्राथमिकता इसे प्रदान की है और जिसका एक महान् साहित्य के रूप

में विश्व के साहित्यिकों द्वारा श्रद्धापूर्वक अवलोकन किया जाता रहा है, क्या वह सब भारतीय परम्परा में 'काम' की उपेक्षा का ही परिचायक है?

'काम' तो एक स्वाभाविक स्थिति है, जिसकी ओर व्यक्ति आपसे आप बरबस खिंच जाता है। इसीलिए काम जहाँ एक ओर अलौकिक लक्ष्य या उद्देश्य के रूप में है, वहीं दूसरी ओर यह पारमार्थिक साधन भी है। यह मनुष्य-जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में भी सहायक होता है। पर वह सहयोग एक अनियन्त्रित काम द्वारा नहीं हो सकता। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रकारों तथा ऋषि-मुनियों ने काम को नियन्त्रित करने का प्रयास किया और वैध काम को प्रश्रय दिया। इसीलिए तन्त्रों, साहित्यिकों, रसशास्त्रियों, कृष्णभक्त श्री जयदेव, सूर, हितहरिवंश आदिकों ने तथा महर्षि वात्स्यायन आदि ने लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के हेतुभूत उस वैध काम का वर्णन किया है और ये वर्णयिता ऋषि-महर्षि तथा बाल-ब्रह्मचारी थे। स्वयं वात्स्यायन बाल-ब्रह्मचारी था, जिसका वर्णन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। और तो क्या, संयमित काम को तो परमेश्वर का स्वरूप ही माना गया है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा :

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। (गीता)

पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य को यह कहा जाय कि वह अधिक से अधिक नंगा रहे और समाज के सभी नियंत्रण, संयम और बन्धनों को तोड़कर खुले दिल से अनियन्त्रित काम सेवन करे। इसी से उसकी समाधि लग सकेगी और उसे प्रेम जैसी अमूल्य वस्तु प्राप्त होगी। यदि ऐसा होता तो पशु-पक्षी तो सभी नंगे रहते ही हैं। फिर उन्हें इस कार्य में जल्दी सफलता प्राप्त होती। पर ऐसा होता नहीं। पशुओं में भी कामोत्तेजना होती ही है।

वस्तुतः काम तो प्रेम का विकृत रूप है। आत्म-प्रेम, ईश्वर-

प्रेम, गुरु-प्रेम, माता-पिता का प्रेम, भाई-बहन का प्रेम तथा राष्ट्र-प्रेम आदि प्रेम की काम से तुलना नहीं की जा सकती। अत्यन्त कामुक प्राणी की भी मातृ-दर्शन से कामवृत्ति कुण्ठित हो जाती है, अर्थात् माता के समक्ष उसकी काम-भावना नहीं रहती।

स्वामीजी के शब्दों में 'प्रेम' नित्य वस्तु है, वह आत्मा का स्वरूप ही है। जैसे चिद्रूपता, आनन्दरूपता आत्मा का स्वरूप है वैसे ही प्रेमास्पदता, प्रेमरूपता भी आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है। अविद्या का व्यवधान मिट जाने पर वह सूर्य के सामन चमक उठता है और वही सत्त्वप्रधान आत्मा-परमात्मा, गुरु तथा माता-पिता आदि के सम्बन्ध से परम पवित्र हो जाता है।

अत: निष्कर्ष यह है कि भारतीय परम्परा में ऋषि-मुनियों ने 'काम' की उपेक्षा नहीं की, बल्कि इसे नियन्त्रित करने का प्रयास किया, जिससे विवेकशील मानव इसका सदुपयोग कर सकें और 'काम' को भी अपने आत्यन्तिक कल्याण और लाभ में सहायक बना सकें।

हम आचार्य रजनीश के भी आभारी हैं, जिन्होंने अपने विचारों को जनता जनार्दन के समक्ष रखा, जिससे उत्प्रेरित होकर ही धर्मसम्राट करपात्रीजी महाराज ने 'काम' और 'सम्भोग' जैसे भौतिक विषयों पर परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा रहस्यपूर्ण तथ्यों को तर्क और युक्तियों की भित्ति पर आधृत कर जनता-जनार्दन की सेवा में अर्पित किया, जिससे मानव भ्रमित न होकर अपने कल्याण का सही मार्ग प्राप्त कर सके।

आशा है, पाठक इसे लाभान्वित होंगे।

वाराणसी
रामनवमी, २००१ई. } —वेदान्ती स्वामी

प्रथम प्रकरण

कोई पुरुष अपनी प्रिय भार्या का आलिङ्गन कर आलिङ्गन-जनित आनन्द-सिन्धु में निमग्न हो आन्तर, बाह्य सब कुछ भूल जाता है। इसी तरह जीवात्मा सुषुप्ति-दशा में परमात्मा से मिलकर आन्तर, बाह्य सब कुछ भूल जाता है। श्रुतियाँ भी स्त्री-पुरुष-मिलन को जीव-परमात्म-मिलन के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करती है—**प्रियया भार्यया संपरिष्वतो नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्**.......... ।

किन्तु इस सम्बन्ध में आचार्य रजनीश की "सम्भोग से समाधि की ओर" पुस्तक की बहुत-सी बातें रोचक और रमणीय होने पर भी वास्तविकता से परे हैं। साथ ही कुछ ऐसी भी बातें हैं, जिनका शास्त्रीय वचनों से कोई विरोध न होने पर भी उनका प्रतिपादन इस ढंग से हुआ है कि सामान्यत: उनका अनुकरण करने वाले पथ-भ्रष्ट होकर अकल्याण के भागी बनेंगे। वे लिखते हैं : "आजतक मनुष्य की सारी संस्कृतियों ने सेक्स का, काम का, वासना का विरोध किया है। इस विरोध ने, इस निषेध ने मनुष्य के भीतर प्रेम के जन्म की सम्भावना नष्ट कर दी; क्योंकि सचाई यह है कि प्रेम की सारी यात्रा का प्राथमिक बिन्दु काम है, सेक्स है। प्रेम की यात्रा का जन्म गङ्गोत्री—जहाँ से गङ्गा पैदा होगी—प्रेम की, वह सेक्स है, वह काम है और उसके सब दुश्मन है। सारी संस्कृतियाँ, सारे धर्म, सारे गुरु और सारे महात्माओं ने तो गङ्गोत्री पर ही चोट कर दी। वहीं रोक दिया—"पाप है काम, अधम है काम, जहर है काम।"

श्री रजनीश की इन पंक्तियों में उनके विचार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। लगता है, शास्त्रीय सिद्धान्तों को विना समझे प्राचीन आचार्यों, महर्षियों, साधु-सन्तों एवं शास्त्रों पर जो आक्रोश व्यक्त किया गया है, वह अविचार एवं अविवेक का ही परिणाम है।

वेद-शास्त्रों की दृष्टि से काम सर्वथा निन्दनीय नहीं। वहाँ तो उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ माना गया है, जिसका प्रतिपादन अगणित श्रुतियों द्वारा किया गया है। चतुर्विध पुरुषार्थों के अभाव में मनुष्य-जीवन की पूर्णता ही नहीं होती, वह अधूरा रह जाता है। स्वयं भगवान् धर्म से अविरुद्ध काम को अपना स्वरूप बतलाते हैं :

धर्माविरुद्धो लोकेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। (गीता ७.११)

शास्त्रकारों से निर्विशेष रस के अनुभव करने से पूर्व सविशेष रस का अनुभव करना आवश्यक समझा। इसलिए साहित्य-शास्त्र के माध्यम से शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य आदि नौ प्रकार के रसों का वर्णन किया गया है। इनमें 'शृङ्गार' को ही प्रधानता दी गयी है, जो स्त्री-पुरुषरूप नायिका-नायक के परस्पर सम्बन्ध से ही व्यक्त होता है किन्तु स्त्री-पुरुष-सम्बन्धजन्य वह रस-निष्पत्ति भी सर्वकारण परमानन्दरूप परमेश्वरमूलक ही है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि सविशन्ति।

अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च आनन्दरूप परमात्मा से उत्पन्न होता है, उसी से जीवित रहता और अन्त में उसी में प्रविलीन हो जाता है। अतएव जैसे समुद्र से उद्भूत तरङ्गें आदि समुद्र से अतिरिक्त कुछ नहीं, समुद्ररूप ही हैं, सुवर्ण से निर्मित कटक, मुकुट, कुण्डलादि आभूषण सुवर्ण से अतिरिक्त कुछ नहीं, या मिट्टी से निर्मित घटादि पदार्थ मिट्टी ही हैं वैसे ही आनन्दरूप परमात्मा से उत्पन्न स्त्री-पुरुषादि सम्पूर्ण जगत् परमानन्द ब्रह्म ही है। फिर भी मिथ्या माया के सत्व, रज, तम आदि गुणों के कारण वह आनन्दमयरूप ब्रह्म तिरोहित रहता है, परिलक्षित नहीं होता।

काम से द्रवीभूत चित्त द्वारा स्त्री का अनुभव होने से पुरुष को स्त्री में और पुरुष का अनुभव होने से स्त्री को पुरुष में ब्रह्मानन्द के ही एक अंश की अनुभूति होती है। कारण आँख, नाक, त्वचा आदि इन्द्रियों द्वारा कोई भी

अन्त:करण स्त्री-पुरुष के स्वरूप एवं रूप-गंधादि गुणों में विराजमान एवं उससे अवच्छिन्न चैतन्य को ही ग्रहण करता है, न कि उसके रूप-गंधादि स्थूल गुणों को। कोई भी व्यक्ति अपना अभिलषित पदार्थ, जिसकी प्राप्ति के लिए वह अत्यन्त व्यग्र रहता है, यदि अपनी इच्छानुसार प्राप्त कर लेता है तो कुछ क्षण के लिए उसकी वह तृष्णा उपक्षीण हो जाती है। फलस्वरूप उन्हीं क्षणों में उसका अन्त:करण अन्तर्मुख एवं विशुद्ध सत्वात्मक हो जाता है। उसी समय उस अन्तर्मुख अन्त:करण पर आत्मस्वरूप आनन्द भी प्रकट हो जाता है।

ज्ञातव्य है कि यहाँ तृष्णा की समाप्ति क्षणिक होने से वह सुख भी क्षणिक ही होता है, उसमें किसी तरह का स्थायित्व नहीं होता। वस्तु जितनी ही अधिक अभिलषित होती है, उसके प्राप्त होने पर उतनी ही अधिक अभिलाषा की निवृत्ति होती है, जिससे अन्त:करण में अन्तर्मुखता आती है। जैसे सुषुप्तिदशा में सर्वाधिक आनन्द तथा शान्ति मिलती है वैसे ही जागृत काम में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्राप्ति की अभिलाषा होती है। फिर दोनों के परस्पर सम्मिलन से अधिकाधिक तृष्णा की एकबार निवृत्ति से मन में पूर्ण उत्कृष्ट अन्तर्मुखता एवं एकाग्रता भी आ जाती है। इसलिए उस समय क्षणभर के लिए सर्वाधिक आनन्द का प्रस्फुरण होता है। पुरुष को स्त्री में रहनेवाला स्त्री से अवच्छिन्न चैतन्य एवं स्त्री को पुरुष में रहनेवाला पुरुषावच्छिन्न चैतन्य उत्कृष्ट आनन्दरूप में भासमान होता है। वस्तुत: यहाँ भी स्त्री-पुरुष दोनों में आनन्दरूपता नहीं, आनन्दरूपता की भ्रान्ति ही है। अतएव सिद्धान्तत: चित्त की एकाग्रता और सावधानी से निरीक्षण करने पर उस समय आत्मा का दर्शन किया जा सकता है :

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्, स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति""(कठोप० १.४.३)

अर्थात् जिस नित्य-निर्विकल्प बोध द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द,

स्पर्श तथा मैथुन-सुखों और तत्-तत् अवस्थाओं को जाना जाता है, वही शुद्ध ब्रह्म है।

इस तरह शृङ्गार रस और मैथुनादि द्वारा वस्तुतत्त्व को पहचानने में सहायता मिलने पर भी उनसे अनासक्त रहकर निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना उचित है। कारण ये सब राग बढ़ानेवाले हैं और राग वैराग्य में प्रतिबन्धक हैं। बिना वैराग्य के चित्त की एकाग्रता सम्भव नहीं, और न स्पष्टत: तत्त्व की प्रतिपत्ति ही हो सकती है। किन्तु वैराग्य होना सबके लिए सम्भव भी नहीं। इसीलिए शास्त्रकारों ने निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग, इन दो मार्गों का निरूपण किया है, जिन्हें बाल्यावस्था से ही पूर्ण वैराग्य हो तो उन्हें प्रारम्भ से ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि वैराग्य न हो तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्मपालन करते हुए ऊपर लिखी प्रक्रिया से ब्रह्म के अनुभव का प्रयत्न करना चाहिए तथा क्रमश: तपस्या, शम, दम का आश्रयण करके वनस्थ होकर सन्यास-आश्रम में जाना चाहिए।

आपका यह कहना भी कहाँ तक उचित है कि "जितने परिपूर्ण हृदय से काम की स्वीकृति होगी, उतने ही आप काम से मुक्त होते चले जायँगे। जितनी अस्वीकृति होती है उतना ही हम बँधते हैं।......नास्तिक मैं उसको कहता हूँ जो जीवन के निसर्ग का अस्वीकार करते हैं, निषेध करते हैं कि यह बुरा है, यह पाप है, यह विषय है, यह छोड़ो वह छोड़ो। जो छोड़ने की बातें कर रहे हैं वही नास्तिक है। प्रेम तो विकसित नहीं हुआ और काम के विरोध में खड़ा होने के कारण मनुष्य का चित्त ज्यादा कामुक और सेक्सुअल होता चला गया।"

इन सारी बातों से तो एक उच्छृङ्खल समाज का ही सृजन होगा। यदि शास्त्रीय विधि-निषेध की मान्यता न हो तो सम्भोग में समाधि लाभ के नाम पर कोई भी स्त्री-पुरुष मनमानी सम्भोग में लग जायँगे। विधि-निषेध न होने पर भाई-बहन, पिता-पुत्री, जाति-अजाति, विवाहित-अविवाहित कहीं भी प्रवृत्ति हो सकती है। यह भी सम्भव नहीं कि एक ही बार एक मैथुन से

तत्त्व-स्फुरण हो ही जाय। दो वृत्तियों, दो अवस्थाओं के बीच निर्विकल्प-बोधरूप ब्रह्म व्यक्त होता है, फिर भी उसे कितने लोग पहचान पाते हैं? अतः विधि-निषेध सर्वत्र सर्वथा अपेक्षित ही है। संसार में सर्वत्र अनिष्ट हेतुओं से निषेध या परहेज होने पर ही कुप्रवृत्ति रुकती है। पुत्री, भगिनी तथा माता का यौन-सम्बन्ध निषिद्ध ही है, पर इसके निषेध से उनमें प्रवृत्ति नहीं बढ़ती। प्रत्युत अत्यन्त कामुक के सामने भी माता के उपस्थित होने पर कामवृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।

मद्य-मांस-निषेध के संस्कारवालों को मद्य-मांस में रुचि ही नहीं होती। मांसभक्षी को भी गोमांस के निषेध का संस्कार होने से उधर कभी रुचि नहीं होती। इसीलिए वेदादि-शास्त्रों तथा सभी सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों तथा आधुनिक संविधानों में भी विधि-निषेध दोनों ही रहते हैं। लोक में भी निषिद्धाचरण से दण्ड-विधान होता है। उसके न होने पर अराजकता ही फैल सकती है।

महाभारत में वर्णन है कि सतयुग में सभी ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न ब्रह्मविद्-वरिष्ठ होते थे। इसलिए वे सब आपस में एक-दूसरे के पोषक ही होते थे, शोषक नहीं। अतः दण्ड्य, दण्डिक और दण्डविधान की भी सत्ता नहीं थी :

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

किन्तु रजस्तम के प्रवेश से जब ज्ञान-विज्ञान आच्छन्न हुआ, राग-क्रोध आदि का विस्तार हुआ तो फिर संविधान और शासन की भी आवश्यकता का अनुभव हुआ, विधि-निषेध की अपेक्षा हुई।

व्यावहारिक संसार में भी भली-बुरी ग्राह्य-अग्राह्य सब वस्तुएँ होती हैं। यदि ग्राह्य का विधान है तो अग्राह्य का निषेध भी चाहिए। इसी दृष्टि से ईश्वरीय विधान वेदादि-धर्मशास्त्रों में भी विधि एवं निषेध दोनों ही हैं। संसार

में मद्य-मांस-सेवन, जुआ-हिंसा चोरी आदि की प्रवृत्तियाँ एवं अनियमित काम प्रवृत्तियाँ अत्यधिक हैं। जिस प्रकार पशु-पक्षियों में माँ-बहन और बेटी का विचार नहीं, वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति भी सम्भव है। यदि इन सब अग्राह्य तत्त्वों से बचना है तो निषेध का भी समादर करना ही होगा। निषेध के कारण कभी किसी की किसी विषय में प्रवत्ति बढ़ जाय, एतावता सब निषेध निराकरणीय नहीं हो सकते। बिजली के खतरे से बचने के लिए सावधान करना भी एक निषेध ही है, पर अपनी रक्षा के लिए इस निषेध को भी मानना ही पड़ता है। एक गृहस्थ के लिए ऋतुकाल में अपनी विवाहिता पत्नी के साथ मैथुनादि का सेवन का विधान है, उसकी उपेक्षा करने पर पाप भी कहा गया है। इससे द्वारा जितना भी समाधि का अनुभव कर सकें करने की पूर्ण छूट है। अत: सर्वत्र अवैध काम ही निन्दनीय है, उसी का विरोध या निषेध किया जाता है।

अथवा यह कहा जाय कि जो लोग नियमत: गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए हैं, परन्तु आसक्ति बढ़ जाने से परम पुरुषार्थ से वञ्चित होकर विषयी हो चुके हैं अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, तथोक्त जनों के लिए ही काम एवं स्त्री की निन्दा की जाती है। स्वाभाविक रागास्पद वस्तु को निन्दा के कारण राग में कमी नहीं होती, किन्तु उत्तरोत्तर वह बढ़ता ही जाता है। निषेध एवं दौर्लभ्य से रागानुराग आसक्ति में वृद्धि होती है। अत: काम की निन्दा या काम-निषेध से काम के आकर्षण या आनन्दप्रदता में कोई अन्तर नहीं आता और न उससे स्त्री-पुरुषों के परस्पर प्रेम में कोई कमी होती है। इसलिए इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

उपनिषदों की पञ्चाग्नि-विद्या तथा वामदेव्योपासना में मैथुनादि में भावना-विशेष से पवित्रता का उपदेश भी शास्त्रों में है। जैसे उत्तरारणि और अधरारणि के संघर्षण से अग्नि का आविर्भाव होता है, जैसे आचार्य एवं शिष्य के संवाद से विद्या का आविर्भाव होता है, वैसे ही माता-पितारूपी

अवरारणि एवं उत्तरारणि से सन्तान की उत्पत्ति होती है—यह उपदेश भी शास्त्रों में है ही।

तैत्तिरीय आरण्यक में वेदाध्ययन एवं अग्निहोत्र होमादि के तुल्य प्रजाति-प्रजनन (सन्तानोत्पादन) को भी एक धर्म के रूप में कर्तव्य माना गया है। अधिक क्या लिखा जाय, वेदादि-शास्त्रों में अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान के सम्पादनार्थ ही जाया-परिग्रह का विधान है : **जाया म स्यादथ कर्म कुर्वीय** (शतपथ)। कारण, दम्पती को ही अग्निहोत्रादि कर्मों को सम्पन्न करने का अधिकार है। विधुर पुरुष एवं विधवा स्त्री का वैदिक यज्ञों में अधिकार ही नहीं है। शतपथ आदि ब्राह्मणों में भी अनेक कर्मों में अनेक बार स्त्री-पुरुष-मिथुन का आरोप किया गया है। तन्त्र-ग्रन्थों मे शुद्ध भगवती की दृष्टि से ही कुमारी की पूजा और सुवासिनी की पूजा का विधान है। वामाचार में तो मैथुनाचार से भी कई उपासनाओं एवं धारणाओं का विधान है, फिर भी विधि-निषेध सभी को मानने पड़ते हैं। विधि-निषेध त्याग देने पर वामाचार की उपासना भी नहीं चल सकती।

यह कहना सही नहीं है कि "द्यूत, मद्य-मांस, मैथुन का निषेध नहीं करना चाहिए, निषेध से प्रवृत्ति और बढ़ेगी। सबको बे-रोक-टोक प्रवृत्त होने दिया जाय। दुष्प्रवृत्ति के दुष्परिणाम का अनुभव कर लोग स्वयं ही उनसे निवृत्त हो जायेंगे।" जिसके कारण, सहस्रों व्यक्ति यावज्जीवन दुष्प्रवृत्तियों में पड़कर नष्ट हो जाते हैं। वे कभी भी दुष्परिणाम से शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते। कीड़े-मकोड़े, पतङ्गादि अरबों वर्षों से प्रकाश (दीपक) पर टूट-टूटकर मरते रहते हैं। गिरते हैं, मरते हैं, पड़ते हैं या दुष्परिणाम का अनुभव करते हैं फिर भी उनसे सबक (शिक्षा) नहीं सीखते। यदि किसी अंश में कहीं ऐसा सम्भव हो तो भी पूर्वजों ने जिन विषयों का पूरा अनुभव कर लिया है, उन विषयों के अनुभव में समय का अपव्यय न कर उनके अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। अपने समय का विनियोग तो अननुभूत आवश्यक अनुभव के लिए ही करना चाहिए।

स्त्री-पुरुष प्रकृति-पुरुष के प्रतिनिधि होकर उसकी प्रेरणा एवं शक्ति से ही सृष्टि करते हैं, यह बात भी नयी नहीं है। गीता कहती है :

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।

(गीता १४.३)

परमेश्वर प्रकृतिरूप योनि में गर्भधान कर सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करते हैं : **सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्।** परमेश्वर के काम का उपाश्रयण किया इसलिए कि 'मैं एक से अनेक हो जाऊं।' स्त्री-पुरुष भी सोम और अग्नि के रूपान्तरण हैं। शोणित-शुक्र में भी वही तत्त्व है।

आप यह कहते हैं कि "प्रेम का उद्‌गम स्थान काम है, काम एवं प्रेम दोनों कोयले और हीरे के तुल्य हैं। जैसे कोयले के बिना हीरा सम्भव नहीं, ठीक वैसे ही काम-बिन्दु के बिना प्रेम सम्भव नहीं।" किन्तु यह कथन भी संगत नहीं; क्योंकि प्रेम आत्मरूप ही है तथा वह सर्वानुभवसिद्ध है। जैसे सभी लोग सुख-साधन वस्तुओं में सुख के लिए ही प्रेम करते हैं, परन्तु सुख में प्रेम अन्य के लिए नहीं करते, सुख में प्रेम सुखार्थ ही होता है वैसे ही प्राणी सब वस्तुओं में आत्मा के लिए ही प्रेम करता है। आत्मा में अर्थात् अपने में उसका प्रेम स्वाभाविक है। वह प्रेम किसी अन्य वस्तु के लिए नहीं होता। इसीलिए लक्षण एक होने से सुख और आत्मा दो नहीं एक ही वस्तु है।

व्यवहार में किसी रूप-दर्शन के लिए रूप, प्रकाश और नेत्र तीनों की अपेक्षा होती है, किन्तु मूल में ये तीनों एक ही तत्त्व हैं। मूलरूप में तेज का ही गुण रूप है, उसी का अंश प्रकाश है और तेज का ही परिणाम नेत्र है। सभी नेत्र से ही रूप देख सकते हैं, घ्राण से नहीं। अतएव ग्राह्य-ग्राहकभाव सजातीय में ही होता है। इसी तरह व्यवहार में यद्यपि सौन्दर्य, सौन्दर्यज्ञान एवं सौन्दर्यज्ञानजनित इच्छा-विशेषरूप प्रेम ये तीन वस्तुएँ हैं, परन्तु मूल में वे एक ही **सत्यं शिवं सुन्दरम्** ब्रह्म, आत्मा ही है। उसी का स्वरूप सौन्दर्य

है, उसी का स्वरूप ज्ञान है और इसी का स्वरूप प्रेम है। तभी तो आत्मा में प्रेम, आत्मा और उसका प्रकाश आत्मरूप ही है।

आत्मा निरुपाधिक, निरतिशय प्रेम का आस्पद होता है। संसार की सब वस्तुएँ सोपाधिक, अनतिशय प्रेम की आस्पद होती हैं। आत्मा सौन्दर्य और उसका ज्ञान, उसमें आकर्षण, उसकी प्रेमास्पदता और प्रेम सब वही है स्त्री को पुरुष में प्रेम, पुरुष को स्त्री में प्रेम क्षणिक-सुखार्थ होता है और वह क्षणिक सुख भी आत्मा के लिए ही होता है। किन्तु आत्मा न क्षणिक सुखार्थ होता है और न स्त्री-पुरुष के लिए ही :

न वाऽरे जायाया: कामाय जाया प्रिया भवति।
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।।
न वाऽरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति।।

इसीलिये जब स्त्री-पुत्रादि सुखदायक न होकर दु:खदायक हो जाते हैं, तब वे प्रेमास्पद नहीं रह जाते। अतएव सर्वथा आत्मा का ही सोपाधिक या विकृत अंश सुखरूप में तथा वही कामसुखरूप में व्यक्त होता है। कोयले से हीरे की उत्पत्ति होती है, परन्तु काम से प्रेम की उत्पत्ति नहीं होती।

जो प्रेमवत् प्रतीत होता है वह प्रेम की विकृति है, वासना। प्रेम निष्काम होता है, वासना सकाम होती है। प्रेम निरपेक्ष तथा वासना सापेक्ष होती है।

महान् आकाश के तुल्य अनन्त प्रकाशमय आत्मा अर्थात् प्रेम है, उसका सोपाधिक विकृतरूप ही लौकिक सुख एवं काम है। उपनिषदों में मनुष्य के आनन्द का पर्यवसान एक बलिष्ठ, धर्मिष्ठ, शक्तिशाली, सार्वभौम सम्राट् में माना गया है और उससे शतगुणित आनन्द मानुष-गन्धर्व का और उससे शत-गुणित आनन्द देव-गन्धर्व का आनन्द होता है। इसी तरह कर्मदेव, अजानदेव, इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापति पर्यन्त उत्तरोत्तर शतगुणित

आनन्द का विकास माना गया है। किन्तु अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्त ब्रह्मादि-देवों में स्फुरित उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द ब्रह्मानन्द-सुधा-सिन्धु की एक तुषारकणिका ही होती है। इन अपरिगणित आनन्द-कणों का उद्गम-स्थान परब्रह्म या आत्मा ही है।

यह कहा ही जा चुका है कि सम्पूर्ण चेतन-अचेतन जगत् उसी आनन्द-सिन्धु से उद्भूत है। इसीलिए सर्वत्र उसी के अंश, कण है। उसके अंशभूत आनन्द ही जीवों को मिलते हैं। वही आनन्द-कण काम-सुख भी है। सुषुप्ति-अवस्था में सम्पूर्ण प्राणी सावरण ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं, पर मुक्ति में निरावरण ब्रह्मसुख का अनुभव होता है। संसार के वैषयिक सुखों में सबसे उत्कृष्ट सुख स्त्री-पुरुष के मिथुनीभवन में है। उपनिषदों में कहा गया है कि जैसे सब जलों का एकमात्र अयन समुद्र है, सब स्पर्शों का त्वक् ही अयन है, एवं सब रूपों का चक्षु ही अयन है वैसे ही एकमात्र उपस्थ ही सभी आनन्दों का अयन या आश्रय है।

सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्। (बृ० उ०)

किन्तु उससे भी उत्कृष्ट सुख सौषुप्त-सुख है। अर्थात् सोने के समय जो सुख मिलता है वह इससे भी प्रगाढ़ है। तभी तो इन्द्रादि देवता कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु तथा अमृतकुण्ड, नन्दनवन और इन्द्राणी, उर्वशी आदि के सुखों से भी पराङ्मुख होकर लोग सौषुप्त-सुख की ओर प्रवृत्त होते हैं। उससे भी उत्कृष्ट सुख निरावरण ब्रह्मात्मसुख होता है।

अतएव काम का आश्रयण किये बिना ही विवेक, वैराग्य, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उस अनन्त ब्रह्मानन्द आत्मा या विशुद्ध अखण्ड प्रेम तक पहुँचा जा सकता है। काम-सुख अनिवार्य नहीं है। संसार में शृङ्गार रस भी उसी ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा जाता है; फिर भी उसके आश्रय, विषय, उद्दीपन, सञ्चारी आदि लौकिक होने से उसमें क्षणिकता होती है। अतः वास्तविक सुखार्थी अस्थि-मांस-चर्ममय स्त्री-पुरुष को छोड़कर परमानन्द-

रससार-सर्वस्व राधा-कृष्ण को ही आत्मा का अवलम्बन बनाकर अनन्त प्रेम का अनुभव करते है। इस प्रकार वे लौकिक देहादि की क्षुद्रता, परिच्छिन्नता से असंस्पृष्ट, अप्राकृत, निखिल-रसामृतमूर्ति भगवान् में ही सब रसों का अनुभव करते हैं। उस आनन्द में निमग्न महापुरुषों के लिए काम का कभी स्मरण भी नहीं होता।

साक्षान्मन्मथमन्मथः--आदिदैविक काम की उत्पत्ति भगवान् वासुदेव से ही होती है। ठीक ही है; क्योंकि अंशी से ही अंश की उत्पत्ति होती है। भगवान् स्वयं पूर्णानुराग-रससार-समुद्रसमुद्भूत निर्मल चन्द्रमा है। अथवा पूर्णानुराग-रससार-सरोवर समुद्भूत सरोज हैं, अथवा सच्चिदानन्द-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोवररूप ही है। उनके पादारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका की एक रश्मि का वीक्षणकर कोटि-कोटि कन्दर्पों का दर्प दलित हो जाता है। उनका चिन्तन करने पर काम बिना भी पूर्ण सुराग एवं पूर्ण शान्ति मिलती है। अचिन्त्य-अनन्त, परमानन्द-सुधासार-समुद्र कृष्ण के माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री श्री वृषभानुनन्दिनी हैं। अमृत एवं माधुर्य का तादात्म्य या अभेद-सम्बन्ध होता है। यही दोनों का अभेद सम्मिलन या सामञ्जस्य है। कृष्ण-हृदयस्थ पूर्णानुराग-समुद्र-समुद्भूत चन्द्र राधा हैं और राधा-हृदय पूर्णानुराग रससमुद्र-समुद्भूत चन्द्र कृष्ण हैं। इस दृष्टि से उभयभावात्मा और उभय परमात्मा है। इस अनुसन्धान से काम-निरपेक्षता स्वभाविक बन जाती है।

इसी प्रकार निर्देश्य दृक् का, निर्मास्य मान का अनुसन्धान करने से, सुषुप्ति के दृश्यभाव एवं उसके साक्षी का अनुसन्धान करने से कामनिरपेक्ष शान्ति मिलती है। देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि, संघात तथा अहंवृत्ति-व्यङ्ग्य बुद्धि अहं के साक्षी में तल्लीनता होते ही दृश्य का मार्जन हो जाता है। काम, शोक आदि का सुतराम् अभाव हो जाता है या सबकी आत्मरूपता ही हो जाती है। अथवा पार्थिवप्रपञ्च के पृथिवी में प्रविलय की भावना से रागास्पद सभी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं। फिर पृथ्वी आदि अव्यक्तान्त सारे

प्रपञ्च का सर्वाधिष्ठान में प्रविलापन कराने पर काम की अपेक्षा ही नहीं रह जाती।

अतएव काम-सुख ही नहीं, प्रत्येक सुख आत्मा की ही किरण है तथा उससे लाभ उठाया जा सकता है। किन्तु वही सब कुछ नहीं है। उसी को सर्वस्व माननेवालों की निन्दा, उन्हें आगे बढ़ाने के लिए ही की जाती है। निन्दा का तात्पर्य विधित्सित की (जिसका विधान करना चाहते हैं उसकी) स्तुति में ही होता है।

"यौवन-जीवन अपरिहार्य है, वह सृष्टि की बुनियाद है" यह ठीक है, किन्तु प्रवृत्तिमार्ग के लिए यह अनिवार्य है, सबके लिए नहीं। शास्त्र भी इसी का प्रतिपादन करते हैं :

"विरक्तः प्रव्रजेत् धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।"

अर्थात् विरक्तजन त्याग का आश्रय ग्रहण करें और सरक्त तो गृह में रहें।

प्रेम की धारा गङ्गा है, पर काम की धारा स्वतः गङ्गा नहीं है और न वह स्वतः परमात्म-सागर तक पहुँचती ही है। यदि ऐसा होता तो अब तक सभी पहुँच गये होते। हाँ, साधनाओं में उसका उचित उपयोग किया जा सकता है। प्रेम श्रेष्ठ "सत्यं शिवं सुन्दरं" है, पर अपने ही रूप में वैसा कदापि नहीं है। अनधिकारी साधक ही काम-निरोध से कामुक होता है, किन्तु न रोकने पर तो शत-प्रतिशत लोग कामुक होते हैं।

आखिर काम द्वारा समाधि सिखानेवाले सज्जन भी तो अन्त में काम-निरोध में ही परिनिष्ठित होने की बात करते हैं। तथ्य तो यह है कि निरोध से ही काम 'शक्ति' बनता है। तभी तो संभोग से समाधि की बात करनेवाले भी सम्भोग के समय श्वासावरोध, प्राणशैथिल्य और भृकुटी या आज्ञाचक्र में मनोविरोध करने का उपदेश करते हैं। यह भी तो निरोध ही है। अन्यमनस्कता या अन्यचिंतन से ही उत्तेजना शिथिल होगी, तभी रतिकाल बढ़ते-बढ़ते तीन घण्टे का हो सकेगा। यदि कामोत्तेजक उपकरणों का ही चिन्तन होता रहेगा,

तो रतिकाल की वृद्धि कैसे सम्भव है? इस तरह उपेक्षा, विस्मृति एवं अन्य-मनस्कता सब निरोध के ही साधन हैं।

एक गृहस्थ शृङ्गार सम्बन्धी साहित्य, चित्रादि से कुछ लाभ उठा सकता है। विकार उत्पन्न होने पर भी उसके पास विकार मिटाने की वैध सामग्री है। किन्तु ब्रह्मचारी, वनस्थ या संन्यासी उनसे लाभ नहीं उठा सकता; क्योंकि उत्पन्न विकारों के उपशमनार्थ उसके पास वैध सामग्री नहीं है। विवेक-विचार से मन को निर्विकार बनाया जा सकता है, पर उन सामग्रियों में सन्निधि त्याग, दर्शन-स्पर्शनादि-त्याग अनिवार्य है। उनके बिना विवेक उतना लाभदायक नहीं हो पाता। इसीलिए बालक-बालिकाओं तथा ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि के लिए शृङ्गार साहित्य एवं तत्-सम्बन्धी चित्र, मूर्ति आदि के दर्शन का निषेध उचित ही है। अतएव माता-पिता अविवाहित पुत्र-पुत्रियों को एतादृश चित्रों से दूर रखते हैं, यह ठीक ही है। यदि किसी भी अनुचित प्रवृत्ति का रोकना अनुचित है तो बालक-बालिकाओं की यथेष्ट चेष्टाएँ बढ़ेंगी। फिर तो शास्त्र ही नहीं अपितु व्यावहारिक, सामाजिक मर्यादाएँ भी अस्त-व्यस्त हो जायँगी। संसार में अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उदाहरण मिलते हैं, पर इतने मात्र से विधि-निषेध का महत्त्व कम नहीं होता।

धर्म की मर्यादा में इतिहास (हिस्टरी) या घटनाएं प्रमाण नहीं होतीं; क्योंकि घटनाएँ दुर्भाग्यपूर्ण भी हो सकती हैं। इतिहास में जैसे राम के एक पत्नीव्रत का उल्लेख है, वैसे ही रावण की उद्दाम कामवृत्ति का भी उल्लेख है। इसीलिए "रामादि के समान व्यवहार करना चाहिये, रावणादि के सामन नहीं"—**रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।** (काव्य प्र० २/१) यही उसका निष्कर्ष है।

जो समझते हैं कि बालक-बालिकाओं के बहुत काल तक नंगे रहने से कामोत्तेजना कम होगी, वे क्यों नहीं ध्यान देते कि पशु-पक्षी नंगे रहने पर भी क्या कामी नहीं होते? वस्तुस्थिति तो यह है कि कुछ प्रकृति-भेद भी

कारण होता है। कई मनुष्य प्रकृत्या शांत होते हैं तो कई अशांत। पक्षियों में कपोत अधिक कामी होता है। सिंह महान् शक्तिशाली होने पर भी कम कामी होता है।

इसके अतिरिक्त जहाँ किसी विधि-निषेध का सम्बन्ध न हो, वहाँ यदि नग्न-दर्शन में उत्तेजना हो और प्रवृत्ति भी हो तो भी कोई हानि नहीं समझी जाती। परन्तु भारत में तो अनादि वेदादि-शास्त्रों से सम्बन्ध अक्षुण्ण है। यहाँ यौन-सम्बन्ध का धर्म-अधर्म से भी सम्बन्ध है। मनमानी सम्बन्ध पाप है। अनुलोम संकर एवं प्रतिलोम संकर सब उच्छृङ्खल यौनसम्बन्ध का ही परिणाम है। इसी तरह सगोत्र-विवाह, भाई-बहन, पिता-पुत्री, पुत्र और माता के यौन-सम्बन्ध को घोर पाप एवं अनर्थ का हेतु माना गया है, अतः नग्नस्थिति और निषेध की पूर्ण उपेक्षा कर देने का परिणाम शुद्ध पशुता ही होगी। आज भी सभ्य संसार में वेश्यावृत्ति तथा अवैध संतान से घृणा की जाती है। जो लोग ईश्वर, धर्म तथा सदाचार का उपहास करते हैं तथा इसे समाज से निकाल देना चाहते हैं, वे ही निषेध और आवरण को थोथा बताकर नवीन अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। उनके पीछे मनचले लोग ही उनके अनुयायी बनकर अपनी उद्दाम प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने की बाट जोहते रहते हैं।

कार्याकार्य का निर्णय प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम प्रमाण से किया जाता है। सभी कार्य-कारणभाव प्रत्यक्ष-अनुमानगम्य नहीं होते। कई वस्तुओं के कार्य-कारणभावों का निर्णय शब्द-प्रमाण पर ही निर्भर होता है। आज भी संसार में शब्दों की मान्यता सभी देशों, सभी सरकारों के लिए अनिवार्य है। ब्रह्म तथा धर्म-अधर्म केवल शास्त्रों के विषय ही हैं, मात्र प्रत्यक्ष एवं अनुमान से वे सर्वथा अप्राप्य ही हैं। ये रूप श्रोत्र से जैसे अविज्ञात होने पर भी चक्षु से ज्ञात होने से मान्य हैं, वैसे ही प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अविज्ञात तत्त्व भी शास्त्रों से ज्ञात होने पर मान्य ही हैं। शास्त्र द्वारा ज्ञात वस्तु का उत्कर्ष एवं उपादेयता की उपपत्ति तर्कों से भी की जा सकती है। व्यवहार में केवल तर्क

पर गोमूत्र एवं मनुष्य-मूत्र की पवित्रता और अपवित्रता का ज्ञान नहीं हो सकता और न भगिनी, पुत्री एवं पत्नी की गम्यता या अगम्यता का निर्णय ही हो सकता है। गंगा की पाप-नाशकता एवं कर्मनाशा की पुण्य-नाशकता का ज्ञान तर्क पर निर्भर नहीं, बल्कि शास्त्र द्वारा ही उसकी जानकारी होती है। व्याघ्रचर्म एवं गर्दभ-चर्म की शुद्धि एवं अशुद्धि का भेद केवल तर्क से समझ में नहीं आ सकता। शंख की पवित्रता तथा मनुष्य के शिरःकपाल की अपवित्रता का ज्ञान केवल तर्क के आधार पर कैसे होगा?

जो कहता है कि **मनुष्यमूत्रं पवित्रं मूत्रत्वात् गोमूत्रवत्, नरशिर-कपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्, परनारी गम्या, नारीत्वात् स्वनारीवत्,** उसे पहले तो पवित्रता का ही ज्ञान करना चाहिए। पवित्रता क्या है? क्या स्वच्छता ही पवित्रता है? पर ऐसा नहीं है; क्योंकि आधुनिक चीनी मिट्टी का अति स्वच्छ एवं चमकदार मल-मूत्र का पात्र भी पवित्र नहीं कहा जा सकता। साबुन से अत्यन्त स्वच्छ कर लेने पर भी उसमें भोजन करना सम्भव नहीं। अतः पवित्रता भी शास्त्रगम्य ही है। अतएव शास्त्रविरुद्ध पवित्रता का अनुमान भी अनुमानाभास माना जायगा।

यह कहना गलत है कि जैसे मल-मूत्र का वेग-रोध हानिकारक होता है, वैसे ही काम-वेग को भी रोकना हानिकारक है; क्योंकि काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों का वेग-रोध तो सर्वथा शक्ति का ही वर्धक होता है। प्राणी के मन में अनुकूल तथा प्रतिकूल अनेक प्रकार के विचार उठते हैं। समझदार व्यक्ति ही हानिकारक विचारों को रोककर उत्तम-उत्तम विचारों को बढ़ावा देता है। यदि चोरी करने की इच्छा से चोरी की जाय, हत्या करने की इच्छा से हत्या की जाय, शराब पीने की इच्छा से उसकी पूर्ति की जाय तो क्या संसार में कभी सभ्य मनुष्य रह सकते हैं?

काम भी विचार पर निर्भर होता है। उसका दूसरा नाम 'मनोज' है। वह सङ्कल्प से उद्भूत होता है। युवती स्त्री के सान्निध्य में भी सङ्कल्प न होने या अन्योन्मुख होने से काम का उद्भव नहीं होता। अतः सङ्कल्प-निरोध,

चिन्तन-त्याग से या तद्विपरीत धर्म और ब्रह्म का चिन्तन करके काम-सङ्कल्प रोककर काम को भुलाया जा सकता है। मल-मूत्र का निरोध वैसा नहीं। अत: यह कहना गलत है कि जैसे मल-मूत्र का निरोध अशक्य है, क्योंकि उसके निरोध से परिणाम भीषण हो सकता है वैसे ही काम-रोध भी अशक्य है। कारण हठात् उन्हें रोकने पर प्रमेह आदि भीषण रोग हो सकते हैं। दोनों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। जैसे भोजन एवं जल का पान करने पर मल-मूत्र का त्याग अनिवार्य है, वैसे ही कामसेवन या शुक्रत्याग अनिवार्य नहीं। प्राचीन काल में ही नहीं, आज भी ऐसे पुरुष पर्याप्त मिलेंगे जिनके लिए यह अनिवार्य नहीं। काम से समाधि चाहने बले लोग भी यही मानते है। कई लोग सदा-सर्वदा के लिए इससे मुक्त हो सकते हैं। कई स्वस्थ स्त्री-पुरुष साथ रहते हुए भी किसी कार्य में व्यस्त रहने के कारण महीनों काम-सङ्कल्प से शून्य रहते हैं। पर क्या मूत्र-पुरीष-त्याग के लिये भी ऐसा कभी सम्भव है? धर्मशास्त्रों में भी मूत्र-पुरीष के वेग का धारण निषिद्ध है, पर काम, क्रोध आदि का वेग-धारण तो प्रत्येक सभ्य स्त्री-पुरुष के लिए व्यवहार में भी अनिवार्य है।

वेग तो किसी भी देश, काल और अवस्था में हो सकता है, परन्तु तदनुसार व्यवहार कभी भी नहीं हो पाता। जो लोग काम सङ्कल्प को रोकने का प्रयत्न न कर केवल काम का वेग रोकने का प्रयास करते है, उन्हीं को प्रमेह आदि दोष होते हैं। संकल्प को रोककर प्रयत्न करने से तो प्रेमह आदि दोष दूर होते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि जो अत्यन्त रागवान् हो, उसके लिए नियमित मार्ग से निषेध और सदाचरण की उपेक्षा कर उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहन देना कभी भी उचित नहीं। न केवल कार्मेन्द्रिय का ही, किन्तु अन्य इन्द्रियों के भी निरोध से शक्ति-सञ्चय होता है। नेत्र-व्यापार के निरोध से ही गांधारी के नेत्र दुर्योधन के शरीर को वज्रमय बनाने में सफल हुए: **"ब्रह्मचर्येण पसादेवा मृत्युमुपाघ्नत।"** ब्रह्मचर्य से मृत्यु का हनन उतना कठिन नहीं जितना कि संभोग में लीन होकर मृत्यु-हनन करना कठिन है।

ब्रह्मचर्य पक्ष में ही नहीं, अपितु संभोग-पक्ष में भी कहीं न कहीं दमन अपेक्षित ही है। अन्यथा उद्दाम प्रवृत्ति से नियत स्त्री में स्थिरता असम्भव ही होगी।

यह कहना ठीक नहीं कि "प्रेम का जानना आसान है, पर कहना बहुत कठिन है।" जिसका ज्ञान सम्भव है, उसका वर्णन भी होता है। अतएव सर्वथा अव्यक्त ब्रह्म का भी वर्णन शास्त्र करते ही हैं, भले ही वह तटस्थ-लक्षण द्वारा हो अथवा अतद्व्यावृत्ति द्वारा हो। प्रेम का भी लक्षण किया ही जाता है। कौन कहता है कि मनुष्य के जीवन में प्रेम का कोई स्थान नहीं। प्रत्येक प्राणी सैदव अपनी आत्मा से प्रेम करता है। **"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"** यह उक्ति उतनी ही सत्य है, जितना भोजन करना सत्य। धर्म को दुर्भाग्य की छाया समझना ही दुर्भाग्य की बात है। आज भी जो कुछ अवशेष है, वह धर्म का ही प्रभाव है। जिस दिन धर्म नहीं रहेगा, उस दिन मनुष्य शुद्ध पशु बन जायगा। आप जिसे प्रेम का द्वार खोलना कहते हैं, वह पशुओं में खुला ही है। 'परमेश्वर के उपक्रम में कुछ भी जहर नहीं' यह कहना सत्य का अपलाप है। क्या संसार में साँप आदि जहरीले प्राणी और संखिया आदि जहर नहीं हैं? क्या पुण्य तथा पाप, दिन और रात, गङ्गा एवं कर्मनाशा सभी किसी और के बनाये हुए हैं? तभी तो,

भलेउ पोच सब विधि उपजाये, गहि गुन दोष वेद बिलगाये।

(रा० मा० १/५२)

सन्त हंस गुन-पय गहहि, परिहरि वारि विकार।।

(रा० मा० १/६)

पंखे के सामने सिर चलाने को पंखा चलाना कहना पागलपन है। किन्तु का प्रत्यक्ष, अनुमान और वेदादिसम्मत धर्म का आचरण करना भी वैसा ही पागलपन है? यदि ऐसी बात है, तब तो ये सारी दलीलें भी कैसे सत्य होंगी? जिस संभोग में प्राणिमात्र अनादिकाल से फँसे हैं, उसे ही समाधि का साधन कहना भी क्या वैसे ही नहीं है?

कहा जाता है कि "अगर दस हजार वर्षों से आदमी प्रेम नहीं भर पाया तो आगे कोई सम्भावना है? इसी धर्म और इसी संस्कृति के आधार पर कि आदमी कभी प्रेम से भर जाय? दस हजार वर्षों में जो नहीं हो पाया, वह आगे भी दस हजार वर्षों में होनेवाला नहीं है।

"दस हजार वर्षों में संस्कृति और धर्म के जो बीज बोये गये है, यह आदमी उसका फल है और यह कड़वा है और घृणा से भरा हुआ है। लेकिन हम हैं कि उसी की दुहाई दिये चले जाते हैं और सोचते हैं कि विष-बीजों से प्रेम पैदा हो जायेगा। मैं आपसे कहना चाहता हूँ, उससे प्रेम नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रेम के पैदा होने की जो बुनियादी संभावना है, धर्मों ने उसकी ही हत्या कर दी है, उसमें ही जहर घोल दिया है। मनुष्य से भी ज्यादा प्रेम पशु और पक्षियों में और पौधों में दिखाई पड़ता है, जिनके पास न कोई संस्कृति है, न कोई धर्म है।"

किन्तु यह कथन निःसार है। प्रसिद्ध है नियम का न पालन करनेवाला नियम की निष्फलता में प्रमाण नहीं है। वैद्य-निर्दिष्ट औषधि का सेवन न करनेवाला यदि वैद्य एवं औषधि को झूठा कहता है तो यह उसकी धृष्टता ही होगी। आपके ही बताये विधान के अनुसार संभोग-सेवन न करनेवाला यदि समाधि न प्राप्त कर सके, तो क्या आप गलत माने जायँगे? यदि कोई वैज्ञानिक विज्ञान निर्दिष्ट मार्ग का अनुसररण न करने के कारण वायुयान बनाने में सफल नहीं होता तो इसमें वैज्ञानिक का दोष है या विज्ञान-निर्दिष्ट पद्धति का दोष? जो किसी नियम का पालन नहीं करेगा, वह भले ही नियम को गलत कहता रहे, लेकिन उससे नियम की उपयोगिता में कोई फरक नहीं पड़ता। चोर, डाकू, व्यभिचारी कोई भी अपना दोष न मानकर संविधान को ही गलत कहते हैं। कम्युनिष्ट पुराने सनातनधर्म तथा अहिंसा को भी गलत कहते हैं। उनकी दृष्टि में चोरी और डाका पर ध्यान न देकर जिस अभाव के कारण प्राणी डाका या व्यभिचार में प्रवृत्त होता है, वह कारण ही उस पाप का जिम्मेदार है। अतः वैसी स्थिति लानेवाले समाज को दण्ड मिलना चाहिये। शैतान के पास भी तर्क का अभाव नहीं होता।

वस्तुतः जैसे विज्ञान-निर्दिष्ट मार्ग पर चलनेवाले वैज्ञानिक उससे अवश्य ही लाभ उठाते हैं, वैसे ही आज भी प्रत्यक्षानुमान से तथा आगम-सम्मत धर्म से अनेक लोग लाभ उठाते ही हैं। जब अधिकांश लोगों की वैसी प्रवृत्ति होती है तो लाभ उठानेवाले भी कम ही होते हैं। रामायण, महाभारत आदि भारतीय इतिहास के अनुसार अनेक काल ऐसे आये हैं, जब अधिकाधिक मनुष्य भले थे :

"न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।"

बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।
(रा० मा० ७/१९/४)

सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
(रा० मा० ७/२०/१)

व्यास, वाल्मीकि, तुलसी का यह कथन असत्य है तो रजनीश का कथन भी कैसे सत्य होगा? अप्राकृतिक कामसेवन करनेवाले लोग प्राकृत काम सेवन करनेवालों से भी कह सकते हैं कि तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। अतएव तुम उससे उचित लाभ न उठाकर दुःखी हो। इस मार्ग पर चलते हुए लाखों वर्ष बीत गये, अब तक तुम्हें लाभ नहीं हुआ तो आगे भी क्या लाभ होने की संभावना है? इसके गलत होने का और क्या सबूत हो सकता है? जहरीले फल से ही बीज के जहरीले होने का पता लगाया जा सकता है। श्री रजनीश के भी तर्क तर्काभास ही हैं। जङ्गली प्राणियों, पशुओं की जैसी ही स्थिति लानी है तो आपका मार्ग लाभदायक भी हो सकता है। परन्तु यदि मानवता की बात करनी है तब तो वह धर्म एवं संस्कृति तथा नियन्त्रण के मार्ग से ही संभव है।

यह कहना सर्वथा असत्य है कि सभ्य, सुसंस्कृत और अपने-अपने धर्म के अनुसार मन्दिर, मस्जिद में प्रार्थना करनेवाला प्रेम से शून्य होता है।

आपका मार्ग तो आपकी दृष्टि में भी सर्वथा नया है। उसका अभी तक एक भी सुपरिणाम सामने नहीं है। शास्त्रीय नियमों के पालन के सफल होने में तो आर्ष-इतिहास ही प्रमाण है।

मूर्ति बनायी नहीं जाती, किन्तु उसका आवरण भङ्ग किया जाता है। स्वास्थ्य को पैदा नहीं किया जाता, अपितु बीमरियों के निराकरण से वह प्रकट होता है। यह कथन शुद्ध आत्मप्रेम के लिए भी कहा जा सकता है। आत्मप्रेम स्वाभाविक है। वह काम प्रेम से भी कहीं अधिक स्वाभाविक है। अबोध बालकों, रुग्णों, असमर्थों में कामप्रेम नहीं होता, परन्तु आत्मप्रेम वहाँ भी होता है।

वास्तव में प्रेम की ही नदी गङ्गा है। उद्दाम काम तो वैतरणी है, गङ्गा नहीं। बीज से पौधा न पैदा हो तो दोष बीज का नहीं, किन्तु पानी न मिलने तथा सूरज की रोशनी न मिलने के कारण ही उसमें अंकुर नहीं होता। ठीक इसी तरह इधर भी निष्पक्ष, पूर्ण दृष्टि दी जाय तो स्पष्ट है कि शास्त्रीय नियमों एवं नियन्त्रणों का दोष नहीं, दोष उन नियमों को ठुकरानेवालों का है। इतने सरल विषय को, निरर्थक बातों का विस्तार कर झुठलाने का प्रयत्न करना भी दम्भ ही है। जैसे बीज का प्रतिरोधक भूमि के उर्वरा न होने के साथ पथरीली और रेतीली तथा ऊसर होना भी सम्भव है; जहाँ बीज डालना भी बेकार होता है। अतएव प्रकृति में भी सब वस्तुएँ सबके अनुकूल नहीं होतीं। फलतः कहीं की भूमि (जमीन) हरी-भरी होती है तो कहीं की वीरान। ऐसे ही देश के साथ काल भी हेतु होता है। सब समय वर्षा नहीं होती और न सब समय गर्मी ही होती है। केसर सब जगह नहीं होता, कोकिला का कूजन सब कालों में सम्भव नहीं। फिर भी आकाशतुल्य आत्मप्रेम सार्वत्रिक ही होता है, किन्तु कलात्मक प्रेम सार्वत्रिक नहीं होता; क्योंकि वह विकृति ही है। धरती के "स्वाभाविक तृणों को हटाकर अभीष्ट वृक्ष एवं पौधे लगाये जाते हैं, वैसे ही स्वाभाविक काम को भी हटाकर अभीष्ट प्रेम बनाना ही पड़ता है।"

स्त्री, पुत्र, पशु, धन, भोगादि प्रेम बिना सिखाये होता है तो भी सबसे प्रेम हटाकर धर्म प्रेम और ईश्वर प्रेम बढ़ाया जाता है। आत्म-प्रेम स्वाभाविक होने पर भी अविद्या, काम, कर्म से प्रावृत्त, ढँका हुआ रहता है। उसे अभिव्यक्त (उद्घाटित) करने के लिए आवरण हटाने का प्रयास आवश्यक है। कूपाकाश स्वाभाविक है पर आवरण हटाने का प्रयास किये बिना क्या वह प्रकट होगा? यद्यपि घट उत्पन्न होने के साथ ही आकाश से पूर्ण ही होता है, फिर भी यदि वह जल, धूल आदि से ढंक गया हो तो उसका आवरण बिना हटाये घटाकाश प्रकट नहीं होगा। वैसे ही मन उत्पन्न होने के साथ ही ब्रह्म से पूर्ण ब्रह्माकार ही होता है, फिर भी अनात्माकारता से वह ब्रह्माकारता प्रावृत्त है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए आवरण भङ्ग का प्रयास करना ही पड़ता है। क्या शुद्ध प्रामाणिक साधनों के सम्बन्ध में साधन का दोष है, मनुष्य का दोष नहीं, यह कहना संगत है?

'यह कहना भी संगत नहीं कि आदमी आज भी यही है, कल भी यही होगा, आदमी हमेशा यही है, यही होगा।' कारण, आदमी वही होने पर भी विशेषण-भेद से उसमें भेद का व्यवहार भी होता है। रोग-साहित्य और रोग-राहित्य एवं ज्ञानसाहित्य और ज्ञानराहित्य से मनुष्य में भेद होता है। वैसे ही साधना के साहित्य और राहित्य से भी भेद होता है। यदि यह भेद न माना जाय, तब तो सुखी और दुःखी, स्वस्थ तथा अस्वस्थ, उन्मत्त एवं अनुन्मत्त, उन्नत और अनुन्नत, बद्ध एवं मुक्त, समाहित एवं असमाहित आदि भेद भी लुप्त हो जायँगे। फिर प्राचीन धर्म और संस्कृति को छोड़कर नये मार्ग का प्रयास भी कैसे संगत होगा?

कहा जाता है कि "मनुष्य काम से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा। यह उसके जीवन का प्राथमिक बिन्दु है, उसी से उसका जन्म होता है। परमात्मा ने काम की शक्ति को ही सृष्टि का मूल बिन्दु स्वीकार किया है। परमात्मा जिसे पाप नहीं समझ रहा है, महात्मा उसे पाप बता रहे हैं।" किन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं; क्योंकि आप भी स्वीकार करते हैं कि आपकी

विधि के अनुसार समाधि प्राप्त कर लेने पर जन्म-जन्मान्तर में पुनः कभी भी काम की अपेक्षा न पड़ेगी। तब क्या इसी तरह ऐसे अन्य पुरुष नहीं हो सकते, जिन्हें काम की अपेक्षा नहीं। संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति के पुरुष होते हैं। कई बाल-विधवाएं इतनी प्रशांत होती हैं कि उन्हें इन विषयों के विचार तक नहीं उठते। ऐसे ही कितने ऐसे ब्रह्मचारी मिलते हैं। कितने सद्गृहस्थ भी बहुत कम कामी होते हैं। अतः सबको कामी समझना भूल है। अतएव प्रेम को काम का रूपान्तर कहना गलत है।

वस्तुतः काम प्रेम का विकृत रूप है। आत्म-प्रेम, ईश्वर-प्रेम, गुरु-प्रेम, माता-पिता का प्रेम, भ्राता-भगिनी का प्रेम, राष्ट्र-प्रेम आदि प्रेम को काम समझना विकृत-मस्तिष्क का ही दुष्परिणाम है। अत्यन्त कामुक प्राणी की भी मातृदर्शन से कामवृत्ति कुंठित हो जाती है। अतः 'जैसे कोयले से हीरा बनता है वैसे ही काम से प्रेम बनता है' यह कथन भी संगत नहीं है; क्योंकि कृत्रिम वस्तु विकार ही होता है और विकार कभी नित्य नहीं होता, कभी न कभी उसका ध्वंस निश्चित है। किन्तु प्रेम नित्य वस्तु है, वह आत्मा का स्वरूप ही है। जैसे चिद्रूपता, सद्रूपता, आनन्दरूपता आत्मा का स्वरूप है वैसे ही प्रेमास्पदता, प्रेमरूपता भी आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है। अविद्यादिरूप व्यवधान के रहते हुए भी "मा न भूवं भूयासम्" अर्थात् 'मेरा अभाव न हो, मैं सदा बना ही रहूँ' इस रूप में आत्मप्रेम परिलक्षित होता है। अविद्या का व्यवधान मिट जाने पर वह सूर्य के समान चमक उठता है, वही विभिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। वही सत्त्वप्रधान आत्मा, परमात्मा, गुरु, माता, पिता आदि के सम्बन्ध से परम पवित्र होता है। साध्वी सती, पतिव्रता के सम्बन्ध से काम भी पवित्र हो जाता है पर वही प्रतिषिद्ध कामिनी आदि के सम्बन्ध से तामस-प्रेम हो जाता है। शास्त्रोक्त साधनों का अभ्यास करने पर अविद्या-व्यवधान का अपनोदन होने से ही प्रेम का वास्तविक रूप प्रकट होता है। सरल, सुन्दर, अचूक साधन होने पर भी यदि उसका अनुष्ठान ठीक न हो तो साधन का दोष नहीं कहा जा सकता,

उसे साधक का ही दोष मानना पड़ेगा। सभी जानते हैं कि जमीन न मिलने, पानी एवं सूरज की रोशनी न मिलने से यदि कोई बीज पौधा नहीं बन पाता, तो इसमें बीज को दोष नहीं दिया जा सकता।

प्रकृत में आदमी के रहने पर भी यदि उसने अपने विकास के लिए उपयुक्त साधनों का अनुष्ठान न किया तो उसकी उन्नति नहीं हो सकती। इसी तरह आदमी आपका बतलाया मार्ग भी नहीं अपनायेगा, अभ्यास नहीं करेगा तो आपको भी उसकी असफलता का हेतु यही बताना पड़ेगा। वामाचारवालों ने भी काम को परमार्थ का साधन बनाया था। उनमें कुछ लोग सिद्ध भी हो गये, परन्तु अधिकांश साधना के नाम पर कामुकता की ओर ही बह गये। इसलिए यह पन्थ खतरनाक सिद्ध हुआ और बदनाम भी हुआ। आपके इस पन्थ की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है।

आचार्य रजनीश का यह दृष्टान्त कितना सही है? ''कोई साधु अपने मित्र को अपने अति उत्तम वस्त्रादि प्रदान कर उसे साथ लेकर किसी अन्य मित्र के यहाँ गया। उसे वस्त्र पहने देखकर मित्र का उत्कर्ष एवं अपना अपकर्ष प्रतीत हुआ और वह पछताया कि मैंने वस्त्र क्यों दे दिये। फिर सोचा कि हम साधु हैं, हमें ऐसी बातों को नहीं सोचना चाहिये। हमारा महत्त्व तो ज्ञान-वैराग्य से है, कपड़ों से नहीं। पर वह जितना ही अपने मन को समझाता, उतना ही उसके मन में कपड़ों का मोह और सङ्कल्प बढ़ने लगा। उसने निर्णय कर लिया कि मित्र के यहाँ यह बात नहीं कहूँगा। फिर भी ऊपर से वह दूसरी बात करता था, पर उसके मन में वस्त्रों का सङ्कल्प चल रहा था। रास्तेवाले लोगों का ध्यान उसके वस्त्रों के प्रभाव से मित्र पर ही जाता था, उस पर नहीं जाता था। इससे वह बड़ी मुश्किल में पड़ गया। जिस मित्र के घर जाना था, पहुँचा। मिलन के बाद प्रसंगवशात् कह गया : 'ये मेरे बचपन के दोस्त हैं, मेरे बड़े प्यारे हैं, रह गयी कपड़ों की बात, सो ये तो मेरे हैं।' यह सुनकर सब दंग रह गये और वह भी पछताने लगा कि मेरे मुँह से क्या निकल गया....! बाहर निकल कर वह मित्र से क्षमा माँग कहने लगा : 'माफ कर दो, भूल हो गयी, अब ऐसी बात बिल्कुल नहीं करूँगा।''

"दूसरे मित्र के यहाँ गया और वहाँ द्वार पर मन को पक्का कर लिया कि यह बात उठाऊँगा ही नहीं। वह जितना दृढ़ सङ्कल्प कर रहा था; उतना ही उसके भीतर भावना घरकर रही थी। जब कोई ब्रह्मचर्य की कसम खाता है, पर कसम तो मन के एक हिस्से में होती है; नौ हिस्से काम की दुहाई देते रहते हैं। जैसे उसके मन में—ये वस्त्र मेरे हैं। संयमी के हृदय में ज्वालामुखी उबल रहा होता है। ऊपर से संयम साधे होते हैं, भीतर असंयम की आग उबलती रहती है। साधना हर समय नहीं चल सकती। श्रम से थकान, शक्ति खतम हो जाती है। उसी समय संसार के सब उपद्रव आ जाते हैं। उसने पूरे श्रम से साँस रोकी, उसकी देह में पसीना आ गया। वह बोल रहा था कि ये मेरे मित्र हैं, पुराने दोस्त हैं। भीतर से कोई जोर का धक्का आया, उसने कहा : "रही कपड़े की बात, सो क्षमा करें, उस सम्बन्ध में मैंने कसम खा ली है। कपड़े की बात नहीं निकालनी है।"

"इस तरह काम को (सेक्स को) एक रोग बना दिया गया है। लड़के-लड़कियों को समझाया जाता है कि यह पाप है। वे ही लड़के-लड़कियाँ यौवनकाल में काम की यात्रा शुरू करते हैं, पर उनके मन में यह भावना भरी होती है कि यह पाप है। फिर स्त्री से कहा जाता है कि पति को परमात्मा मानो। वह समझती है कि जब यह पाप में घसीट रहा है; तो परमात्मा कैसे मानें? ऐसे ही पति से कहा जाता है कि यह तुम्हारी साथिन है। वह सोचता है यह तो नरक है। इस स्थिति में सामंजस्य होता नहीं, दाम्पत्य-जीवन नष्ट हो जाता है। वास्तव में इस प्रेम को बढ़ाया जा सकता है। यह ऐसा उदात्त हो कि सब बंधनों को तोड़कर दूसरे तक फैल जाय।" आदि।

परन्तु तथोक्त सम्पूर्ण कथन निःसार तथा भ्रमोत्पादक है। संसार में अच्छे-बुरे विचार सबके मन में आ सकते हैं और आते हैं, किन्तु विवेकी प्राणी उसमें से योग्य विचारों को ही अपनाता है और बुरे विचारों को हटाता है। एक वकील या शास्त्रार्थी की बुद्धि में स्वपक्ष तथा परपक्ष के सब तर्क

उठते हैं, पर वह अपने पक्ष के पोषक तर्कों का ही उपपादन करता है, अन्य तर्कों का निराकरण करता है। आपके दृष्टान्त एक-दो होंगे, परन्तु इसके दृष्टान्त सर्वत्र ही मिलते हैं। ऐसा नहीं होता कि एक अहिंसा-संस्कारी व्यक्ति हिंसा निषेध की बात सुनकर या पुस्तक पढ़कर हिंसा के लिए उत्सुक हो जाय। प्रत्युत्त उसके अहिंसा के ही संस्कार दृढ़ होते हैं। संन्यासियों, वैष्णवों, जैनों, बौद्धों में यह देखा जा सकता है। मांस के प्रति घृणा होने से उधर कभी रुचि नहीं होती। उसी तरह काम के प्रति भी अनेक लोगों को हृदय से ही घृणा होती है, उधर उनका आकर्षण ही नहीं होता।

यह भी मिथ्या है कि साधु-महात्मा सभी के लिए काम को पाप बताते हैं। वैध काम की तो प्रशंसा ही है। कई स्थलों में तो काम के त्याग को ही पाप कहा गया है। हाँ अवैध काम अवश्य निन्दनीय हैं। इतने मात्र से वैध काम के प्रति घृणा नहीं सिद्ध हो सकती। आज के लोगों के सम्बन्ध में तो यह कहा भी नहीं जा सकता; क्योंकि उनको शास्त्र एवं सत्पुरुषों में विश्वास ही बहुत कम है। उनके लिए वैध-अवैध सब काम एक-से ही हैं। उनका काम विकसित नहीं है यह कहना सत्य का अपलाप है। वहाँ तो नियन्त्रण का अभाव ही उसकी उद्दाम प्रवृत्तियों का हेतु है। पशु को किसी अच्छे खेत में छोड़ देने पर वह एक जगह जमकर पेट भर नहीं खायेगा, वह घूम-घूम कर मनमानी खाना ही पसन्द करता है। परन्तु उसे बाँध दो तो वह जमकर प्रेम से घास खा सकता है, वही स्थिति प्रकृत में है।

नियन्त्रण के बिना प्राणी को एक जगह सन्तोष होता ही नहीं, उसे नयी-नयी स्त्री ही अपेक्षित होती है। किन्तु धार्मिक या सामाजिक प्राणी किसी वैवाहिक सम्बन्ध से बँधकर ही काम-सुख भी प्राप्त करता है। अत: नियन्त्रण आवश्यक है। आश्चर्य है कि नियन्त्रण एवं निषेध से इतनी घबराहट क्यों?

'जिसने सांसारिक प्रेम नहीं किया वह परमेश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता' यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि और कहीं प्रेम नहीं भी हो तो भी

आत्मा का प्रेम तो सभी को प्राप्त है, अन्यथा आत्मकल्याण का प्रश्न ही नहीं उठता। श्रवण, मनन करने से आत्मप्रेम ही विकसित निरावरण होकर परमात्म-प्रेम का रूप धारण कर सकता है। यह भी बात अनुभव-विरुद्ध है कि जो स्त्री पति-प्रेम नहीं करती, वह पुत्र-प्रेम नहीं कर सकती। इसके विपरीत अनेक उदाहरण मिलते हैं। पति से प्रेम न होने पर भी पुत्र से प्रेम होता है। पत्नी में पति का प्रेम न होने पर भी पुत्र-पुत्री में प्रेम देखा जाता है। प्रेम होने या न होने में भी परिस्थितियों का असर पड़ता है। पशु-पक्षियों में पति-सम्बन्ध बहुत साधारण-सा ही होता है, पर शिशुओं में प्रेम अनिवार्य होता ही है।

कहा जाता है कि "सब कहते हैं कि हम प्रेम करते हैं। यदि यह बात सही होती तो दुनिया में प्रेम की ही वर्षा होती। फिर घृणा की रोशनी न दिखाई पड़ती। वास्तव में कोई किसी को प्रेम नहीं करता। जब तक काम के निसर्ग को परिपूर्ण आत्मा की स्वीकृति नहीं मिलती, तब तक कोई प्रेम से प्रेम नहीं कर सकता।" परन्तु यह भी काम के प्रति एक अन्धविश्वास ही है। 'दुनिया में काम के सम्बन्ध से ही सब प्रेम करते हैं' यह कहना सर्वथा निर्मूल है।

संसार में मानव-दानव, पशु-पक्षी सभी पत्नी, पुत्र आदि से प्रेम करते ही हैं, लेकिन विवेक की बात मनुष्यों तक ही सीमित है। पशु-पक्षियों में कोई काम के प्रति घृणा का उपदेश नहीं करता। जंगली जानवर भी अपने शिशुओं की रक्षा के लिए मर मिटता है। रहा यह कि 'दुनिया में प्रेम के फूलों की वर्षा नहीं हो रही है!' तो उसका हेतु है—प्रेम का अहंता ममता की सीमा में बँध जाना। जहाँ तक प्राणी की अहंता-ममता है वहीं तक प्रेम करता है। इसीलिए सुख भी अपना ही प्रिय है; परकीय-सुख नहीं। इतना ही नहीं, शत्रु के सुख से तो द्वेष भी होता है। अपनी पत्नी, अपना पुत्र, अपनी देह और अपना गेह प्रिय होता है। उसी में प्रेम होता है, अन्य में प्रेम नहीं होता। इसीलिए शत्रु-मित्र-भावना के साथ ही अपना अभ्युदय एवं शत्रु-विनाश

की भावना जागरूक होती है। यही घृणा-द्वेष संसार को विषाक्त बनाने का मूल है।

इसीलिए अध्यात्मतत्त्वज्ञ ममता के विकास पर बल देते हैं। उसके विकसित होने पर जैसे मेरी देह, मेरा पुत्र और मेरी पत्नी प्रेमास्पद हैं, वैसे ही मेरा कुटुम्ब, मेरी जाति-बिरादरी, मेरा ग्राम, मेरा समाज, मेरा प्रान्त देश, राष्ट्र और विश्व भी प्रेमास्पद हो जाता है। अपने दाँतों से अपनी जीभ के कट जाने पर किस पर कोप किया जाय? क्या कोई दाँतों को पत्थर से तोड़ने का प्रयत्न करता है? इसी तरह जब कोई व्यक्ति अहंता-ममता को विकसित कर समष्टि में ममता करता है तभी वह ममता लाभदायक होती है। व्यष्टि-अभिमान को 'मृत्यु' और समष्टि-अभियान को 'अमृत' कहा गया है। उस स्थिति में जैसे कोई बिना दूसरे की सिफारिश किये ही अपने अपराधों को क्षमा कर देता है, वैसे ही अपने समाज, राष्ट्र, विश्व ही नहीं, समष्टि महाविराट्, समष्टि हिरण्यगर्भ समष्टि कारणतत्त्व में ममता के दृढ़ हो जाने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च ही प्रेमास्पद हो जाता है। फिर उसके अपराधों को भी क्षमा करने और परमहित सम्पादन में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जैसे व्यष्टि अभिमानी (अपने सीमित स्वार्थ के साधनों में प्रयुक्त) अपने शरीर तथा अपनी पत्नी पुत्र आदि के दुःख निवारण एवं सुख-सम्पादन में सदैव तल्लीन रहता है वैसे ही समष्टि में अभिमान करनेवाला महापुरुष (समाज और देश के स्वार्थसाधन में प्रयुक्त) संसार के दुःख निवारण एवं सुखप्राप्त्यर्थ प्रतिक्षण यत्नशील रहता है। ममता के दृढ़ हो जाने पर ही अन्त में समष्टि-व्यष्टि और कार्यकारण से अतीत, अनन्त सर्वाधिष्ठान, अखण्ड निर्विकल्प, प्रत्यक्चैतन्या-भिन्न बोध में निष्ठा होती है। संसारभर के लोगों का अपने देह-गेह, पत्नी, पुत्र में प्रेम और भी बढ़ जाय, तब भी व्यष्टि-अभिमान की निवृत्ति के बिना विश्व का मङ्गल नहीं होगा। प्रेम की वर्षा नहीं हो सकेगी।

कहा जाता है कि "काम दिव्य है, सेक्स परमात्मा की शक्ति है। इससे ऊर्जा पैदा होती है, इससे जीवन विकसित होता है। प्रेमवर्षा के लिए

उससे दुश्मनी छोड़ देनी चाहिये, उसे आनन्द से स्वीकार करें और खोजें, गहरे से गहरे जायें तो आप देखेंगे कि जितनी पवित्रता से काम की स्वीकृति होगी, उसकी धन्यता को स्वीकार करें तो काम उतना पवित्र होता चला जायगा। पति-पत्नी परस्पर प्रेम से एक-दूसरे के पास मन्दिर में परमात्मा की भावना से जायँ; क्योंकि वहाँ परमात्मा की सृजन शक्ति काम करती है।

परन्तु वह भारतीय संस्कृति की दृष्टि से कोई नवीन वस्तु नहीं है। संयमित काम परमेश्वर का स्वरूप ही माना गया है :

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।" (गीता ७/११)

विष्णुपुराण में वर्णन है कि ईश्वर ही निराकार रूप में, ब्रह्मा के रूप में, प्रजापतियों के रूप में और माता-पिता के रूप में विश्व की सृष्टि करते हैं। वही निराकाररूप में विष्णुरूप में, इन्द्रादि रूप में तथा नृपति रूप में विश्व का पालन करते हैं और वही निराकाररूप में, रुद्ररूप में, यमादिरूप में तथा व्याधिरूप में जगत् का संहार भी करते हैं। किन्तु अनियंत्रित काम तो समष्टि और व्यष्टि जगत् को नरक ही बनानेवाला होता है। उससे तो स्वेच्छाचारिता और पशुता का ही जन्म होगा :

कहते हैं कि "मेरी अपनी दृष्टि यह है कि मनुष्य को समाधि का, ध्यान का, जो पहला अनुभव मिला है मनुष्य के इतिहास में, तो वह संभोग के क्षण में मिला है और कभी नहीं। सम्भोग के क्षण में ही पहली बार यह स्मरण आया है कि आदमी को इतने आनन्द की वर्षा हो सकती है और जिन्होंने इस सत्य पर ध्यान किया है, मेडिटेशन किया है, जिन लोगों ने काम के सम्बन्ध पर और मैथुन पर चिन्तन किया और ध्यान दिया है, उन्हें यह दिखाई पड़ा कि काम के क्षण में, सम्भोग के क्षण में मन विचारों से शून्य हो जाता है। एक क्षण में मन के सारे विचार रुक जाते हैं और यह विकारों का रुक जाना और मन का ठहर जाना ही आनन्द की वर्षा का कारण होता है। तब उन्हें सीक्रेट मिल गया, राज मिल गया कि अगर मन को विचारों से मुक्त किया जा सके, किसी और विधि से भी, तो भी उतना ही

आनन्द मिल सकता है और तब समाधि और योग की सारी व्यवस्थाएं विकसित हुईं, जिनमें ध्यान और सामयिक मेडिटेशन और प्रेयर, इनकी सारी व्यवस्थाएँ विकसित हुईं। इन सबके मूल में सम्भोग अनुभव है, और फिर मनुष्य को अनुभव हुआ कि विना सम्भोग में जाये भी चित्त शून्य हो सकता है, और जो रस की अनुभूति सम्भोग में हुई थी वह बिना सम्भोग के भी बरस सकती है। फिर सम्भोग क्षणिक हो सकता है; क्योंकि शक्ति और ऊर्जा का वह निकास और बहाव है। लेकिन ध्यान सतत हो सकता है। तो मैं आपसे कहना चाहता हूं कि एक युगल सम्भोग के क्षण में जिस आनन्द का अनुभव करता है, एक योगी चौबीस घण्टे उस आनन्द का अनुभव कर लेता है। लेकिन इन दोनों आनन्दों में बुनियादी विरोध नहीं है इसीलिए जिन्होंने कहा कि 'विषयानन्द और ब्रह्मानन्द भाई-भाई हैं' उन्होंने जरूर सत्य कहा है।''

परन्तु यह बात काम-सुख में ही लागू नहीं है। किसी भी तृष्णा की आस्पद वस्तु के मिलने पर यह बात लागू होती है। क्षणभर के लिए जब कोई तृष्णा शान्त होती है मन अन्तर्मुख होकर सत्त्वोन्मुख हो जाता है, उसी शान्त वितृष्ण, सत्त्वोन्मुख मन पर व्यापक ब्रह्म का क्षणिक प्राकट्य होता है, वही आनन्द है। जैसे घटादि नाना विषयों के होने पर भी उनका ज्ञान एक ही है; वैसे ही विषयतृष्णा एवं तृष्णा-निवृत्ति के अनेक रूप होने पर भी वितृष्ण मन पर प्रकट आनन्द एकमात्र ब्रह्मानन्द ही है। यह साक्षेप तथा क्षणिक होने से विषयानन्द है। निर्विषय एवं निरपेक्ष होने से ब्रह्मानन्द अनन्त होता है। वामाचार वाले भी इसी आनन्द को ब्रह्मानन्द मानते हैं। वे उपासना की बुद्धि से ही वैसा करते हैं, ध्यान की प्रधानता रखते हुए ही इसका सेवन करते और स्त्री को साक्षात् शक्ति तथा पुरुष को साक्षात् शिव मानते एवं उससे पारलौकिक लाभ के अतिरिक्त विविध मन्त्र सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। फिर भी उससे कितने लोग लाभ उठा पाते हैं और कितने साधना के नाम पर विषयी होकर बहिर्मुख हो जाते हैं, इसका विचार करने पर यह मार्ग समाज के लिए निरापद नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसे भी चित्त की एकाग्रता के

लिए अन्य ध्यान-समाधि आदि करने ही है, तो उसी में प्रवृत्ति को प्रोत्साहन क्यों न दिया जाय?

जैसे प्रत्येक विचार और प्रवृत्ति पर भी बोध की अभिव्यक्ति होती है, वृत्तियों की स्वाभाविक सन्धि में शुद्ध साक्षी का भी अनुभव होता है, फिर उसके अनुभव के लिए विवेक-विचार का अवलम्बन करना पड़ता है। संयम, विषय-विरति से चित्त की एकाग्रता बढ़ाकर ही सन्धि का अनुभव होता है।

काव्यों के शृङ्गारादि रस, जिन्हें 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा जाता है, काम-सुख नहीं है। कोई भी साहित्यिक काम को अपने आप में रस नहीं मानता। अतएव प्रत्यक्ष नायिका-नायक और उद्दीपन सामग्रियाँ उस रस की व्यञ्जक नहीं मानी जातीं। किन्तु काव्योपवर्णित नायिका-नायक ही आलम्बन, विभाव तथा काव्योपवर्णित चन्द्रोदय, शीतलमन्द-सुगन्ध पवन, कोकिल-कूजन, बसन्तरूप उद्दीपन विभाव, ही रसाभिव्यञ्जक माने जाते हैं।

काव्य के चमत्कार आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारी के योग से साधारणीकरण की महिमा से कुछ क्षणों के लिए उद्दीपन सञ्चारिविशिष्ट आलम्बनविभागवत् चैतन्य एवं प्रमातृ-चैतन्य का अभेद होता है और कुछ क्षणों के लिए प्रमातृ-प्रमेयात्मक विश्व लुप्त होकर रस की अभिव्यञ्जना होती है। उसी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है।

ब्रह्म सर्वविषयशून्य अखण्डबोध रूप होता है। किन्तु इस रस में पानक रस न्याय से आलम्बन, उद्दीपन सञ्चारिकृत भावो का अंश रहता है। जैसे किसी पानक, पेय-रस में काली मिर्च, केसर, सौंफ, गुलाब के फूल, सिता आदि के भी स्वाद होते हैं वैसे ही रस में भी अनेक विशेषणों के सूक्ष्म संस्कार होते हैं।

□□

द्वितीय प्रकरण

मिस्टर 'रसेल' का यह कहना आंशिक ही सत्य है कि "कभी स्त्रियों के अँगूठे भी वस्त्रों से प्रावृत रहते थे और तब अँगूठा देखने से भी उत्तेजना होती थी, पर आज करीब-करीब आधी नङ्गी स्त्रियों को देखने से भी कोई असर नहीं पड़ता। हम चीजों को छिपाने का जितना प्रयत्न करते हैं उतना ही यह आकर्षण पैदा होता है। यदि दुनिया से सेक्स को मुक्त करना है तो बच्चों को बहुत देर तक नंगे रहने की सुविधा मिलनी चाहिये। लड़के-लड़कियाँ एक-दूसरे से अङ्गों से पूर्ण परिचित होने चाहिये। फिर किसी किताब पर नंगी स्त्री की तसवीर की जरूरत न रह जायेगी।" किन्तु नंगे रहने मात्र से आकर्षण दूर नहीं होता। पीछे कहा ही जा चुका है कि कई जगह आकर्षण भी उपेक्षित होता है। आकर्षण से ही उत्तेजना होती है। कामियों को उत्तेजना ही प्रिय होती है। वे उत्तेजना के अभाव में परेशान होते हैं।

आकर्षण-विशेष के लिए ही परकीया रति का गुणगान किया जाता है; क्योंकि वहाँ निषेध और दुर्लभता है। जहाँ निषेध और दुर्लभता होती है वहीं अत्यधिक आकर्षण होता है। इसीलिये तो भगवान् के सौन्दर्य एवं माधुर्य को नित्य-नव-नवायमान मानते हैं। जिन्हें उनमें सौन्दर्य की नव-नवायमानता नहीं भासती, उन्हें कृत्रिम नव-नवायमानता लाने के लिए नये-नये भूषणों, अलङ्कारों का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन यह विशेष बात है। बहुत-से आकर्षण तो दूसरे ढंग से भी होते हैं। सम्पन्न मनुष्यों को भोजन में रुचि लाने के लिए तरह-तरह के व्यंजनों, मसालों का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु बुभुक्षित (भूखे) प्राणी के लिए बाजरे की रोटी में भी अद्भुत स्वाद प्रतीत होता है। उसे स्वाद के लिए बाह्य उपकरणों की अपेक्षा प्रतीत नहीं होती। कई बड़े, सम्पन्न लोगों को उत्तेजना के लिए, प्रेम या काम के भूषणालङ्कार से अलंकृत परमसुन्दरी युवती भी पर्याप्त नहीं होती जबकि

किसी के लिए अतिकुरूपा में भी आकर्षण हो जाता है। विशेषकर अभाव में ही रुचि बढ़ती है।

जिनके लिए जो वस्तु दुर्लभ है, उन्हें उसमें आकर्षण होता है, जिनके लिए कोई भी स्त्री अप्राप्त है, उनके लिए वृद्धा, कुरूपा, भूषण-अलङ्कार-हीनाओं में भी आकर्षण होता है। किसी को नित्य की परिचित अपनी पत्नी में भी तृप्ति-दशा में आकर्षण नहीं होता। अतृप्ति दशा में नित्य-परिचित अपनी पत्नी में भी पूर्ण आकर्षण होता है। पशु-पक्षी सभी नंगे ही रहते हैं, तो भी परिस्थिति के अनुसार उनमें भी उत्तेजना होती है। स्त्री की अपेक्षा पुरुष में प्रावरण कम ही रहता है, फिर भी उसमें स्त्रियों का आकर्षण कम नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुष के नंगे रहने से कामुकता कम हो जायगी, यह सोचना नितान्त भ्रान्ति है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि विषय-सन्निधान-वर्जन का ही एक रूप प्रावरण भी है। जो स्त्रियाँ परदे में या प्रावृताङ्गा रहती हैं, सबसे बातें नहीं करतीं, जो पुरुषों से व्यवहार कम करती हैं, अनेक हेतुओं से उनकी सुरक्षा अधिक होती है। जो निःसंकोच निरावरण सबसे मिलती हैं, सब प्रकार की बातें हास-परिहास करती और अकेले में भी पुरुषों से मिलती हैं, उनके प्रति आकर्षण तथा कामप्रवृत्ति अधिक होती है।

यह भी सत्य है कि परदे में भी कई स्त्रियों के निकृष्ट व्यक्तियों से निकृष्ट सम्बन्ध हो जाते हैं। फिर भी वह अपवाद है, क्वाचित्क ही उत्सर्ग या सामान्य नहीं। इसीलिए परमहितैषी शास्त्रों ने कहा है कि 'बाल्यावस्था में स्त्री की रक्षा पिता करता है, यौवनकाल में भर्ता तथा वृद्धावस्था में पुत्रादि रखा करते हैं।' किसी भी काल में स्त्री को स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए। पुरुषों पर भी नियन्त्रण रखा गया है। माता, बहन एवं पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं रहना चाहिए क्योंकि इन्द्रियग्राम बलवान् होते हैं। वे विचारशील विद्वानों के मन को भी आकृष्ट कर सकते हैं—

माता स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।।

(मनु०)

गंदी किताबों, उपन्यासों, नाटकों, नंगे चित्रों की प्रवृत्ति स्त्री-पुरुषों के नंगे रहने से मिटनेवाली नहीं, यह कौन समझदार नहीं जानता? कि वस्तु की प्राप्ति या सम्भोग में वह सुख नहीं होता जो उसकी कल्पना में होता है। अतएव सम्भोग के उत्कर्ष के लिए ही आकर्षण का उत्कर्ष होना आवश्यक है। तदर्थ अपरोक्ष विषय की अपेक्षा विषय की परोक्षता तथा कल्पना अधिक रुचिकर होती है।

रसशास्त्रियों ने प्रत्यक्ष नायक-नायिका से रसाभिव्यक्ति न मानकर काव्योपवर्णित नायक-नायिका आदि को ही अभिव्यञ्जक माना है। अतएव "काम का दमन, विरोध तथा कामनिन्दा ही कामुकता की जननी है" यह कहना प्रलाप मात्र है। कामदमन न करने का अर्थ है काम का स्वातन्त्र्य, कामस्वातन्त्र्य से पूर्ण खुली छूट। खुली छूट से कामुकता मिट जायगी यह सोचना भ्रांति ही नहीं, घोर अनर्थ भी है।

कहा जाता है कि "काम से, सेक्स से दुश्मनी खड़ी की गई है, लड़ाई मानी गई है, दमन किया गया है। उससे मैत्री नहीं की गयी, समझ नही पैदा की गयी। जितनी गहरी समझ होगी, मनुष्य उतना ही ऊँचा उठेगा। जितनी कम समझ होगी, उतना ही मनुष्य दबाने की कोशिश करेगा। दबाने का कोई सुफल परिणाम नहीं मिल सकता।" किन्तु ये सब बातें अविचारित-रमणीय हैं। इन्द्रियों से तथा काम-क्रोध से मैत्री बिना उपदेश के ही प्राप्त होती है। आमतौर पर संसार शिश्नोदरपरायण होता है। वह काम से मैत्री नहीं चाहता, प्रत्युत काम का दास बनने में ही अपने को धन्य-धन्य मानता है। अज, गर्दभादि बिना दमन के, बिना दुश्मनी के निर्मान होकर गर्दभी का पाद प्रहार सहते हैं, पर आज तक उनकी कामुकता नहीं मिटी। यदि कहा जाय कि उनमें विचार नहीं, इसीलिए वैसी स्थिति है,

तब तो फिर विचार ही मुख्य है। उसी का उपयोग करना चाहिए; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से वही मुख्य कारण ठहरता है। स्त्री-पुरुषों को नंगा-नंगी बनाना कभी भी शान्ति का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह पशुओं में व्यभिचरित है।

सम्भोग के अन्दर क्षणभर समाधि का अनुभव नहीं खींचता, प्राणी को विषयवासना ही खींचती है। केवल स्त्री-काम ही नहीं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय भी आकृष्ट करते हैं। कुरङ्ग, मातङ्ग, पतङ्ग, भृङ्ग और मीन एक-एक विषय से आकृष्ट होते हैं। उपनिषदों में इन्द्रियों को 'ग्रह' कहा गया है। जैसे ग्रह से आविष्ट प्राणी पराधीन हो जाता है। फिर शब्दादि विषयों को 'अतिग्रह' कहा गया है। जो ग्रहों को अपने वश में कर ले, वह अतिग्रह ही है। इस तरह ग्रह एवं अतिग्रहों से गृहीत प्राणी संसार में फँसकर कामुक हो जाय, पिशाच बन जाय या कुछ भी बन जाय, थोड़ा ही है। भगवद्भक्त, तत्त्वज्ञानी कृष्णग्रह-गृहीतात्मा हो जाता है। तभी वह ग्रह तथा अतिग्रह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। काम को उन्मुक्त स्वीकृति देने से, नंगे रहने से ग्रह-अतिग्रह से छूटने की आशा दुराशामात्र है।

यह कहना भी गलत है कि ''समझदार माँ-बाप बेटे-बेटियों को काम का, सेक्स का सब अनुभव बता देंगे तो वे नहीं भटकेंगे, गलत रास्ते पर नहीं जायंगे।'' कारण रागानुगा प्रवृत्ति के लिए शिक्षा की अपेक्षा नहीं होती। वैसे भी सुव्यवस्थित शिक्षाएँ जो भी हैं, वे नियंत्रण ही हैं। शिक्षा का तात्पर्य ही इष्ट-प्रेप्सु को इष्ट-प्राप्ति का उपायोपदेश और अनिष्ठ परिजिहीर्षु को अनिष्ट-परिहार का उपायोपदेश है। वे ही रूपान्तर के विधि-निषेध हैं। जो विधि-निषेध से भागता है, वह निषेध, नियम, निरोध और दमन से भागेगा। वह कोई भी शिक्षा क्यों मानेगा? सम्पूर्ण वाङ्मय वाग्व्यवहार का प्रयोजन विधि-निषेध ही है। इतिहास, आख्यान, आभाणक, किस्से कहानियों का भी तात्पर्य वृत्तकीर्तनमात्र न होकर इस विधि-निषेध में ही है कि **''रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्''** अर्थात् राम, युधिष्ठिर आदि के समान ही बर्ताव करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं।

कहते हैं : ''ब्रह्मचर्य से सेक्स का विरोध नहीं, किन्तु रूपान्तर है। जो सेक्स का दुश्मन है, वह कभी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य प्रभु का अनुभव है, वह ब्रह्म की चर्या है। जैसा भगवान् का जीवन हो वैसा ही जीवन उपलब्ध हो जाय। अपनी शक्तियों को समझकर रूपांतरित करने से काम राम के अनुभव में कैसे बदल सकता है।''

किन्तु यह सब कथन भ्रांतिमूलक है। कौन प्रभु है और उस प्रभु का कैसा जीवन है और वैसा जीवन कैसे बनाया जाय—ये सब बातें 'छायावादी' भाषा है अथवा है 'छद्मपूर्ण भाषा'। शायद उनका प्रभु उनकी गूढ़ भाषा में बोलता है। उनके तीर्थङ्कर महावीर स्वामी जैसे नंगे थे वैसे नंगा जीवन ही ब्रहमचर्य है!

यदि निराकार-निर्विकार निर्गुण, अखण्डभानरूप ब्रह्म का अनुभव ही प्रभु का अनुभव है तो भी वह नित्य एकरस है। उसका कोई चर्या या क्रियारूप जीवन नहीं है। वह तो नित्य है। जो वस्तु बननेवाली होती है, उसमें रद्दोबदल होता है। वह नित्य नहीं हो सकती। कोयले से बननेवाला हीरा भी नित्य नहीं। सेक्स से बननेवाला ब्रह्मचर्य भी नित्य नहीं हो सकता।

श्रीरजनीश के धर्म और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। वे 'सब धान बाईस पसेरी' के हिसाब से ही देखते हैं। सब भैंसे एक ही लाठी से हाँकना चाहते हैं। शब्द-व्यवहार लोकभाषा में ही होता है। शब्दों का जो अर्थ लोक में प्रसिद्ध है, वही शास्त्र में भी होता है। लोक में 'धर्म' साधन-कोटि में परिगणित है और ब्रह्मानुभव उन सभी साधनों का फल माना जाता है। फलतः काम है सम्पूर्ण इन्द्रियों से सम्पूर्ण रूप में विषय-सेवन। किन्तु ब्रह्मचर्य ठीक इसके विपरीत है। वह अष्टाङ्ग मैथुन-त्याग!

अष्टाङ्ग मैथुन में १. पुरुष को रागास्पद स्त्री आदि का और स्त्री को पुरुष आदि का स्मरण २. उसका कीर्तन, ३. केलि-क्रीड़ा, ४. प्रेक्षण, ५. गुह्यभाषण, ६. काम-सङ्कल्प ७. काम का अध्यावसाय और ८. क्रियानिष्पत्ति ये आठ परिगणित हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

इन सबका त्याग ही ब्रह्मचर्य है। इनमें भी स्मरण-संकल्प ही सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य विरोधी है। काम सर्वथा सङ्कल्पमूलक है। सङ्कल्प का निरोध न कर काम का निरोध चाहना एक प्रकार की अनभिज्ञता ही है; सङ्कल्प-त्याग ही काम-निरोध की अचूक औषधि है। कहा भी है :

काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे ।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन त्वं न भविष्यसि ।।

अर्थात् "हे काम! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ, तुम सङ्कल्प से पैदा होते हो, हम सङ्कल्प ही न करेंगे तो तुम सुतरां न हो सकेंगे।" काम की स्वीकृति और काम-त्याग दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। अन्धकार से प्रकाश की उत्पत्ति के समान काम-सेवन से ब्रह्मचर्य-प्राप्ति की बात भी विरुद्ध है। अवश्य ही कभी वैध काम-सेवन चित्त-व्यवस्था का हेतु बनता है और क्रमेण साधनाभ्यास द्वारा काम-निरोध की शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु विधि और निषेध के बिना, नियन्त्रण के बिना काम-स्वीकृति से समाधि या ब्रह्मचर्य की बात करना जनता को गुमराह ही करना है।

काम सङ्कल्प से काम-प्रवृत्ति एवं शुक्रधातु का क्षय होता है। शुक्रोद्रेक से काम-सङ्कल्प की प्रेरणा मिलती है। किन्तु काम-सङ्कल्प एवं काम का नियन्त्रण होने पर शुक्रधातु की ही ऊर्जा ब्रह्मचर्य, ब्रह्मवर्चस् और ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मनिष्ठा के रूप में आविर्भूत होती है। वही काम का रूपान्तरण कहा जा सकता है।

यह ठीक है कि मनुष्य के भीतर परमात्मा भी रहता है और शैतान भी। धर्म भी रहता है और अधर्म भी। मनुष्य में नरक से स्वर्ग और स्वर्ग से नरक पहुँचने की क्षमता है। यह भी कोई नयी बात नहीं। मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष दोनों का हेतु है :

"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चिन्तानामनदी उभयतो वहति।
वहति च संसाराय वहति च कैवल्याय।।"

परन्तु यह दृष्टान्त पूर्ण सत्य नहीं है कि "चित्रकार ने ऐसा चित्र बनाना चाहा कि जिसमें परमेश्वर का आनन्द झलकता हो, जिसकी आँखों में अनन्त शान्ति झलकती हो। उसने देशों-विदेशों में घूमकर आखिर एक पहाड़ पर एक गाय चरानेवाले चरवाहे को ढूँढ़ निकाला। उसकी आँखों में कोई झलक थी, उसे देखकर लगता था कि मनुष्य के भीतर परमात्मा भी है। उसने चित्र बनाया। उसके चित्र गाँव-गाँव पहुँचे। लोगों ने अपने घरों में उसका चित्र टाँगकर अपने को धन्य समझा। उसी चित्रकार ने शैतान की प्रतिच्छाया बनाने के लिए वैसा व्यक्ति भी ढूँढ़ लिया और वैसा चित्र भी बनाने में सफल हुआ। वह भी वही था जिसकी पहली प्रतिच्छवि थी।"

वस्तु स्थिति के अनुसार यह तो हो सकता है कि प्राणी स्वर्ग से नरक और नरक से स्वर्ग पहुँच जाय। अच्छे से बुरा और बुरे से अच्छा बन जाय किन्तु परमात्मा को प्राप्त कर पुनः परमात्मा से नरक पहुँचे, यह सम्भव नहीं। शैतान से परमात्मा बना जा सकता है, पर परमात्मपद-प्राप्ति के बाद शैतानपद-प्राप्ति असम्भव ही है। पीछे कहा ही जा चुका है कि आसुरी शक्ति ज्येष्ठ है और दैवी शक्ति कनिष्ठ। फिर भी चरम दैवी शक्ति से आसुरी दैवी शक्ति का पूर्णतः अन्त हो सकता है। सभी दार्शनिक संसार-बन्ध को अनादि और मोक्ष को किसी दृष्टि से सादि कहते हैं। संसार अनादि-प्रशान्त है तो परमात्मा अनादि-अनन्त। अतएव आँखों में नरक की लपटों का जलना, चेहरे से अशुभ, पाप, कुरूप, असुन्दर और पाप की प्रतिमा का प्रतिभान होना पहली अवस्था है। आँखों में अनन्त शान्ति एवं परमात्मा की झलक यह अन्तिम अवस्था है। जीवन स्वर्ग बने, एक सुवास तथा सौन्दर्य प्रकट हो यह भावना ठीक ही है। यह भी ठीक है कि "बचपन में हम कहीं स्वर्ग में होते और बुढ़ापा होते-होते नरक पहुँच जाते हैं। बचपन में एक निर्दोष

संसार का अनुभव होता है। अन्त में कपट-पाखंडपूर्ण संसार का अनुभव होता है। शरीर के साथ ही आत्मा दीनहीन, जर्जर और खंडहर तो नहीं होती, पर वैसी प्रतीत होने लगती है।''

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अध्यात्मवाद में आत्मा नित्य एवं अनादि है। अत: सभी के बचपन में अनिवार्य रूप से स्वर्ग ही होता है। कर्मों से जन्म एवं जन्मों से कर्म बनते हैं। जब प्राक्तन कर्मों के आधार पर जन्म होता है और प्राणी में शुभाशुभ कर्मों के संस्कार होते हैं, तब तो यही मानना पड़ेगा कि बाल्यावस्था के कारण जैसे कामादि शक्तियाँ अनुद्भूत रहती हैं, वैसे ही भले-बुरे सभी संस्कार अनुद्भूत रहते हैं। जैसे-जैसे सम्पर्क एवं उद्बोधक सामग्रियाँ मिलती है, वैसे-ही-वैसे उनका उद्भव होता है। फिर भी उत्तम शिक्षा एवं उत्तम वातावरण से उत्तम संस्कार उद्भूत होते हैं। अशिक्षा या दु:शिक्षा एवं दूषित वातावरण से निकृष्ट संस्कार उद्भूत होते हैं। वर्तमान काल में अशिक्षा या दु:शिक्षा एवं विकृत वातावरण के ही कारण बालक उत्तरोत्तर नरक की ओर बढ़ता है। यदि अच्छी शिक्षा, वातावरण हो तो उत्तरोत्तर स्वर्गीय या आध्यात्मिक उन्नत स्तरों पर बढ़ा जा सकता है।

अत: यह कहना गलत है कि ''धर्म एक संदेह उठाना चाहता है।'' स्वर्ग से हम नरक तक पहुँच जायँ, आदमी के जीवन की यह यात्रा गलत है; क्योंकि जीवन मे प्रमाद और पुरुषार्थ दोनों ही होते हैं। प्रमाद से प्राणी पुण्य से पाप में, स्वर्ग से नरक में एवं प्रकाश से अन्धकार में पहुँचता ही है। यह तो पुरुषार्थ का उत्तम मूल है कि हम तम से ज्योति में, असत् से सत् में और मृत्यु से अमृत में पहुँचें।

यह तो ठीक ही है कि ''स्वयं के भीतर परमात्मा की खोज के लिए व्यक्ति में ऊर्जा का संग्रह आवश्यक है, शक्ति का संवर्द्धन होना चाहिए।'' यह भी ठीक है कि ''स्वर्ग या जीवन का सत्य निर्बलों के लिए नहीं। शक्ति का संवर्द्धन ही धर्म का मूल स्रोत है।'' किन्तु काम की स्वीकृति तथा काम का उद्दाम राज्य शक्ति का साधक नहीं हो सकता। ऊर्जा का संग्रह तो

कामनिरोध और शुक्र-संग्रह से ही सम्भव है। तभी तो कहा गया है कि बिन्दुपात से ही मरण होता है और बिन्दु-धारण से ही अमृत्त्व-लाभ होता है। काम का गुलाम कभी भी शक्ति का स्रोत नहीं हो सकता। आप भी यह मानते है कि "शक्ति को खोने का सबसे बड़ा द्वार है सेक्स, काम।"

आपका यह कहना सही नहीं है कि "शक्ति कौन खोना चाहेगा? कुछ झलक है उपलब्धि की, उसी झलक के लिए आदमी शक्ति खोता है।" क्योंकि मूर्खता से भी शक्ति का खोना होता है। मनुष्य ऐयाशी, शराबखोरी और जुए में धन गँवा देता है। क्या वहाँ कोई उपलब्धि है? कोई आत्मा की झलक है?

जिस मार्ग से आत्मोपलब्धि या समाधि-सुख मिलता है, उस मार्ग से कभी भी शक्तिक्षय हो ही नहीं सकता। अतएव कामसुख-तृष्णा से ही प्राणी शक्ति खोता है, आत्मोपलब्धि के लिए नहीं। इसीलिए स्वयं की शान्ति और आनन्द के स्रोत में पहुँचने का कोई मार्ग है, तो उसी की प्राप्ति के लिए, उसी की क्रान्ति के लिए प्रयत्न कर प्राणी को काम से विमुख और राम के सन्मुख होने को उन्मुख होना चाहिए। सेक्स में, सेक्स के विचार में उस सीढ़ी को ढूँढ़ना पानी से मक्खन पाने की ही आशा करनी है। वेद-शास्त्रों, ऋषियों और महर्षियों की शिक्षा से ही वह मार्ग मिलेगा। उनको कोसने, सेक्स का गुणगान करने या उससे मैत्री करने से नहीं।

यह कहना सर्वथा गलत एवं अनर्गल है कि "अगर हम मनुष्य जाति को नया मार्ग न दे सकेंगे तो मनुष्य एक पुनरुक्तिवाले चक्कर में घूमता-घूमता नष्ट हो जायगा। अब तक सेक्स का मार्ग बन्द कर दिया गया है। शक्ति भीतर ही भीतर घूमती है, चक्कर लगाती है। अगर शक्ति के लिए नया द्वार न मिला तो वह घूमती शक्ति मनुष्य को विक्षिप्त कर देगी। प्रकृति मनुष्य को एक ही द्वार देती है और वह है सेक्स का द्वार। अब तक की शिक्षाओं ने वह द्वार बन्द कर दिया तथा दूसरा द्वार खोला नहीं। फलत: सेक्स का द्वार बन्द होने से वह निकलने की चेष्टा करता है। दीवालों और खिड़कियों को तोड़कर कूदता है, अपना सिर तोड़ लेता है।"

वस्तुतः कोई भी ऐसा धर्म नहीं और वैदिक धर्म तो ऐसा है ही नहीं, जिसने प्राकृतिक या नैसर्गिक मार्ग बन्द कर दिया है। रागानुगा प्रवृत्ति तो निन्दा, निषेध या विरोध से कभी रुकती ही नहीं, और उग्र ही होती है। इसीलिए आज के अरबों मनुष्यों में सहस्र-परिमित भी ऐसे नहीं मिलेंगे जो धर्मों की शिक्षा से प्रभावित हो कामनिरोध या कामदमन में प्रवृत्त हुए और उस दमन के कारण उनका काम अनैसर्गिक मार्ग से प्रवाहित हुआ हो।

अनैसर्गिक प्रवृत्तियों का हेतु अभाव भी होता है। कितने ही लोग अनेक कारणों से चाहने पर भी नैसर्गिक सामग्री नहीं प्राप्त कर पाते। कितने ही कुतूहलवशात् तो कितने ही अन्य कई कारणों से अनैसर्गिक मार्गों में प्रवृत्त होते हैं। वैदिकों का तो स्पष्ट निर्देश है :

"विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् संरक्तश्चेद् गृहे वसेत्।"

त्याग, संन्यास आदि का मूल कारण वैराग्य ही कहा गया है : **"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्"** वैराग्यवान् प्राणी के लिए तत्वसाक्षात्कार अनन्त शान्ति का मार्ग स्पष्टरूप से निर्दिष्ट है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, श्रवण-कीर्तनादि भक्ति या वेदान्त का श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि प्रचुर मार्ग प्रशस्त हैं ही। इतना ही क्यों, वेद का तो स्पष्ट उद्घोष ही है कि परमात्म-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग ब्रह्मात्म-साक्षात्कार है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

साथ ही यह भी जानना चाहिए कि उन्मुक्त काम की स्वीकृति किसी भी पुरुषार्थ का हेतु नहीं है और न वह समाधि या ब्रह्मानुभव का मार्ग ही है। हाँ, नियन्त्रित, वैध कामप्रवृत्ति लक्षण धर्म में उपयोगी होती है। उसके द्वारा पुत्र, पौत्र आदि सन्तति और स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। उपासना-समुच्चित अग्निहोत्रादि प्रवृत्तिधर्म से ब्रह्मलोक-प्राप्ति तथा क्रम मुक्ति भी मिलती है। इतना ही नहीं, निष्कामभाव से कर्मोपासनादि द्वारा स्वान्तः शुद्धि, विवेक, वैराग्यादि के क्रम से श्रवण, मननादि द्वारा तत्त्वज्ञान भी प्राप्त होता है। परन्तु

उन्मुख काम से मैत्री करके कामनिरोध या कामदमन से भागने पर तो कभी भी किसी प्रकार का भी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो पाता है।

सम्भोग-क्षण में समय-शून्यता एवं अहंकार-विलीनता का भी केवल भ्रम ही है। अतएव वहाँ किसी भी आत्मा, परमात्मा की कोई भी झलक नहीं होती। जो कुछ भी अनुभव है, वह सोपाधिक आत्मा या सोपाधिक आनन्द का ही है।

निरुपाधिक वास्तविक आत्मा का तो क्षणिक अनुभव भी संसार से पार कर देता है। क्षणभर भी निरावरण ब्रह्मात्मतत्त्व का अनुभव पूर्णमोक्ष का हेतु बन जाता है। वास्तविक ब्रह्मानुभूति के पश्चात् प्राणी जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह नहीं सकता और न कभी उनके लिए शक्ति का क्षय ही होता है। उससे तो अनन्त शक्तियों का स्रोत ही खुल जाता है। अतएव परम सत्य की झलक की याद में नहीं, किन्तु वासनामय आनन्द के लिए ही वह पागलपन है। आत्मा, परमात्मा या परमसत्य की झलक की यह लालसा है, यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी इस लालसा में पागल हैं। क्या उन्हें भी परमात्मा की झलक मिली है? उसी की लालसा में वे भी पागल हैं? यदि बिना अनुभव के भी वैसी मान्यता हो, तब तो वैसा पागलपन तो विभिन्न व्यसनियों के विभिन्न व्यसनों में भी देखा ही जाता है। शराबखोरों और जुआड़ियों या शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध आदि के रसिकों को भी अपने-अपने विषय में कामोद्रेक होने से वही पागलपन होता ही है।

आप कहते हैं कि "मनुष्य को चेतना तक पहुँचने के दो ही मार्ग हैं—काम और ध्यान।" किन्तु क्या यह ध्यान का मार्ग पुराने ऋषियों-महर्षियों की शिक्षाओं में नहीं है? यदि है तो इस कथन का क्या अर्थ है कि 'आजतक की शिक्षाओं में दूसरे द्वार को खोला ही नहीं गया।'

सेक्स प्राकृतिक मार्ग है। वह जानवरों को भी प्रकृति ने दिया है; पक्षियों, पौधों को भी दिया है। परन्तु उसे 'विशिष्ट आनन्द प्राप्ति का मार्ग' कहना ही उचित है। उसे 'परमात्मा के अनुभव का मार्ग' कभी नहीं कहा जा

सकता। इसीलिए तो आप को भी कहना पड़ता है कि ''जबतक मनुष्य केवल प्रकृति के दिये द्वार का उपयोग करता रहेगा, तब तक पशुता से ऊपर नहीं उठ सकेगा। मनुष्यता का प्रारम्भ उसी दिन से होता है, जिस दिन वह सेक्स के अतिरिक्त एक द्वार खोलने में समर्थ होता है। जब तक पशुता का अतिक्रमण नहीं कर पाता तब तक मनुष्य मनुष्य ही नहीं होता।''

है तो यह बात ठीक, पर प्राय: सभी धार्मिक, विशेषत: वैदिक-धर्म तो प्रारम्भ से पशुता से ऊपर लाने के लिए प्रयत्न कर रहा है। वैदिक काम-कर्मज्ञान से पाशविक काम-कर्मज्ञान के अतिक्रमण का प्रयत्न ही वैदिक-धर्म है। अनियन्त्रण ही पशुता है और नियन्त्रण ही है मनुष्यता। पर जो विधि-निषेध से ही भागेगा, वह किस तरह पशुता से ऊपर उठेगा?

''मंदिर-मस्जिदों में प्रार्थना करने वाले पाकिस्तान बनने के समय पूर्णरूप से पशु बन गये, उनमें छिपी पशुता उभड़ पड़ी'', यह ठीक है। किन्तु इसमें मन्दिर-मस्जिद का दोष नहीं था। इसमें दोष था साधनाओं की कमी का और उसी के कारण पूर्णरूप से पशुता का अतिक्रमण नहीं हो सका। द्वेष, घृणा एवं हिंसा ने विजय पा ली। अत: स्पष्ट है कि जब वैदिक काम-कर्मज्ञान का प्राबल्य हो जाता है, तभी पाशविक काम-कर्मज्ञान का अतिक्रमण होता है।

यह कहना बिल्कुल बेतुका है कि ''पशुता का सहज मार्ग है हमारी ऊर्जा। हमारी शक्तियों का एक ही द्वार है और वह है सेक्स, काम। वह द्वार बंद कर दें तो कठिनाई खड़ी हो जाती है।'' कारण पाकिस्तान के बँटवारे के समय हिन्दू-मुसलमानों में जो पशुता उभड़ी, जिसका अतिरंजित वर्णन कर डाला गया, उन लोगों का क्या प्राकृत द्वार बन्द था? सभी लोग स्वाभाविक रूप से सेक्स के गुलाम ही तो थे। कामदमन की बात तो कोई भी सोचता न होगा। फिर वहाँ पशुता कैसे उभड़ी? इसका उत्तर सेक्स से मैत्री का उपदेश करने वाले के पास कुछ भी नहीं है।

यह भी कहना गलत है कि ''काम का दबाना सरल है, परन्तु

रूपान्तरण करना कठिन है।'' क्योंकि नियम एवं नियन्त्रण के बिना रूपान्तरण सम्भव ही नहीं। विधि-निषेध या नियन्त्रण से भी रूपान्तर से दबाव ही डालना है। सहज-स्वाभाविक काम की स्वीकृति में विधि को भी अवकाश नहीं होता।

यह भी कहना गलत है कि ''जिसे हम दबा देते हैं, वह हमारे भीतर प्रतीक्षा करता रहता है कि कब मौका मिल जाय कि मैं कूद पड़ूं। उससे हम मुक्त नहीं होते और गहरे अर्थों, गहराइयों तथा अचेतन में बँध जाते हैं। उसकी जड़ें बढ़ जाती हैं और वे हमें जकड़ लेती हैं।'' कारण इस तरह तो प्राणी को कभी भी पाप का, अज्ञान का तथा मृत्यु का भी विरोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे भी दबकर वैसी ही प्रतीक्षा करेंगे। तब क्या कामादि के दबाने, अतिक्रमण या विनाश के लिए प्रयत्न न किया जाय? मृत्यु का अतिक्रमण कर अमृतत्व में जाना, असत-अनृत का अतिक्रमण कर सत् या सत्य को प्राप्त करना एवं पाप का अतिक्रमण कर पुण्य में प्रविष्ट होना सभी को अभीष्ट होता है। काम का अतिक्रमण कर ब्रह्मचर्य में जाने की बात सेक्स से मैत्री करने वाले भी चाहते हैं। पर यह सब बिना विधि के, बिना नियन्त्रण के असम्भव ही है।

भले ही अन्धकर भी प्रतीक्षा ही करता रहता है, प्रकाश के हटने पर वह छा ही जाता है, फिर भी अन्धकार को मिटाया ही जाता है। सूर्य द्वारा व्यापक अन्धकार का नाश होता है, वह कहीं कन्दराओं में छिपकर रहता है। पर प्रकृत में तो तत्त्वज्ञान से अज्ञान का समूल नाश अभीष्ट है, पुनः उसका उद्भव ही नहीं। यह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति कही जाती है। अतएव सेक्स दबाने से कभी नहीं बढ़ा। विधि निषेध के नियन्त्रण के शिथिल या नष्ट होने का ही यह दुष्परिणाम है, जिसका रोना रोया जा रहा है।

''आज मनुष्य की काम-सीमा पशुओं से भी बढ़ गयी है। २४ घण्टे, बारहों महीने मनुष्य का समय हो गया है। उसमें व्याकुलता उबल रही

है। यह विकृति, यह दुर्घटना काम-दमन का फल है,'' यह समझाना घोर मतिभ्रम है। आर्ष-इतिहास साक्षी है कि जब प्राणी शास्त्रविश्वासी, धार्मिक, जितेन्द्रिय और संयमी था तो कामुकता क्वचित् ही कहीं परिलक्षित होती रही। आज तो शिक्षा, साहित्य, सिनेमा आदि सारा वातावरण शास्त्र के विरुद्ध है। धर्म के विरुद्ध नियंत्रण, दमन किसी को भी अभीष्ट नहीं। मानो श्री रजनीश आधुनिक उबलती हुई कामुकता की वकालत कर रहे है। इसीलिए तो आधुनिक युवक-युवतियों को उनके विचार रोचक प्रतीत होते हैं। यदि सेक्स द्वारा ही समाधि भी मिल जाय, परमात्मा की प्राप्ति भी हो जाय तो अच्छा ही सौदा है।

काम को दबाना कठिन तो है ही, जब उसको दबना न पड़े, पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो फिर उच्छृङ्खल जगत् को मुँह-माँगी मुराद ही मिल जायगी। कामुकता की निन्दा करना और काम नियन्त्रण, कामदमन से पिण्ड छुड़ाकर काम को पूर्ण स्वतन्त्रता देना दोनों बातें परस्पर अत्यन्त विरुद्ध ही हैं।

कहा जाता है कि ''यदि हमें बालकों-बालिकाओं को सेक्स की शिक्षा देनी पड़ेगी तो उनके बीच के कुरूप एवं कुत्सित फासले को तोड़ डालना होगा। उन्हें अत्यन्त सहजता से निकट लाना होगा। उनकी दूरी अमानवीय है। बालक-बालिकाएँ काम-प्रौढ़ता के पूर्व घरों में जब चाहें तब नग्न रह सकें, तो उनके मन में एक दूसरों के शरीरों के प्रति कुत्सित जिज्ञासा पैदा न होगी। एक दूसरों के शरीरों का अपरिचय कैसी मूर्खतापूर्ण जिज्ञासा में घसीट ले जाता है!'' किन्तु ये सभी बातें निःसार हैं। वैसे बालिका-बालक बाल्यावस्था में तो नग्न रहते और एक दूसरे के अङ्गों से परिचित होते ही है।

वास्तव में नंगे रहने मात्र से ये जिज्ञासाएँ मिटा नहीं करतीं। संसार में कोई भी स्त्री या पुरुष, स्त्री-पुरुष के शरीरों से अपरिचित नहीं रहता। सभी बालक-बालिकाओं के शरीरों को देखते ही हैं। प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के अङ्गों से भी अपरिचय नहीं। पति-पत्नी परस्पर के अङ्गों को जानते ही हैं। फिर भी काम की ये जिज्ञासाएँ होती हैं। काम के कारण ही दृष्ट वस्तु भी अदृष्टवत्

और परिचित भी अपरिचितवत् आकर्षक बन जाती है। अतएव बालक-बालिकाओं को ही नहीं भले प्रौढ़ युवक-युवतियों को भी नग्न रहने की शिक्षा दी जाय तो भी उससे कामुकता पर तब तक कोई असर नहीं पड़ेगा जब तक विधि-निषेध, सदाचार, भक्ति और तत्त्वज्ञान के संस्कार जागरूक न किये जायँ। उलटे प्रतिबंध और संकोच मिट जाने से बे-रोक-टोक कामुकता और बढ़ेगी।

कहा जाता है कि "नंगे पशुओं, श्वानों तथा उनके प्रत्यक्ष सम्भोग को देखकर बच्चे बिगड़ जायँगे। इस चिन्ता से पशुओं को कपड़ा पहनाने की बात जैसी ही कुतूहलपूर्ण है, प्रौढ़ बालक-बालिकाओं को कपड़ा पहनाने की बात। अत: उन्हें नग्न रहने की सुविधा दी जाय। उन्हें एक-दूसरे के अङ्ग से पूर्ण परिचित होने दिया जाय।"

"पशु नग्नता में निर्दोष हैं, सरल हैं, सीधे हैं। भीतर बहुत नङ्गापन छिपा हो, तब तक आपको पशु नङ्गे नहीं दिखाई पड़ेंगे। जरूरत इस बात की है कि एक दिन आदमी इतना सरल होकर नग्न खड़ा हो सके, निर्दोष आनन्द से भरा हुआ। महावीर जैसा व्यक्ति नग्न खड़ा हो गया, ऐसा प्रत्येक व्यक्ति सहजता से नग्न हो सके।"

लेकिन ये सब बातें भी तथ्यशून्य हैं। सरलता भीतर की चीज है। उसका कपड़े पहनने या न पहनने से कोई मुख्य संबंध नहीं। जैसे कई लोग बाहर का कपड़ा रंग लेने पर भी मन नहीं रंग पाते, वैसे ही कई लोग बाहर से नङ्गे हो जाते हैं, पर मन से नङ्गे नहीं होते। नङ्गों का एक सम्प्रदाय ही है। अब तो विदेशों में भी ऐसे कई संगठन हैं, जो नङ्गे रहते और नङ्गे रहने का उपदेश करते हैं। पर संसार भर के सारे उपद्रव उनमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान है।

बाकलों का नङ्गापन तभी तक अच्छा लगता है, जब तक उनमें विकार का प्रादुर्भाव नहीं होता। उनकी निर्विकारता अबोधकृत और अवस्थाकृत है; किन्तु सनकादियों की निर्विकारता बोधमूलक है।

बालकों में दोष है, पर वे प्रसुप्त हैं, उद्बुद्ध नहीं है। किन्तु सनकादिकों के दोष मिट गये हैं, उनका कभी भी उद्भव सम्भव नहीं। इसीलिए तत्त्वज्ञानसम्पन्न परम निर्विकार व्यक्ति की ही नग्नता का महत्त्व है। लेकिन विकारवानों में उसी नग्नता का प्रचार करना और नग्नता को प्रोत्साहन देना भीषण नग्नता को ही बढ़ावा देना है।

'पत्नी माता भी हो सकती है' यह कोई नयी बात नहीं। भारतीय संस्कृत साहित्य में 'जाया' की व्याख्या ही यह है : **"जायते पुत्ररूपेण पुमान् अस्यामिति जाया।"** अर्थात् पुत्ररूप से पति जिसमें जन्म ग्रहण करता है, वही 'जाया' है। पत्नी, पत्नी-दशा में ही अनेकरूपा होती है। वह शयनकाल में पत्नी है, भोजनादि कराने के समय माता, तो शुद्ध स्नेहवती होकर भगिनी भी होती है। वह परामर्शदात्री होकर अभिन्न हृदया सखी भी होती है। पति-पत्नी दोनों ही अभिन्न हृदय, एक प्राण, एक आत्मा और दो देह होते हैं। वे शिव-शक्तिरूप, लक्ष्मी-नारायणरूप या उमा-महेश्वररूप होते हैं।

श्री रजनीशजी ने उड़ती-चलती कोई बात कभी सुन ली होगी कि 'कामनिरोध के उपदेशकों ने काम को गाली देकर, काम की निन्दा कर दोनों को एक दूसरे का दुश्मन बना दिया है। पति-पत्नी को पिशाची या राक्षसी और नरक में ले जानेवाली मानता है। पत्नी पति को पिशाच या राक्षस या नरक का द्वार मानती है।" अब रजनीशजी काम की, सेक्स की स्तुति कर पति-पत्नी को मित्र बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह उनका निरा भ्रम है।

हाँ, पति-पत्नी विधि-निषेध का आदर करते हुए वैध काम का सेवन करने से ही काम के ऊर्ध्वगमन में, काम की ऊर्जा के रूपान्तरण में सहयोगी हो सकेंगे। इस दृष्टि से पति-पत्नी एक दूसरे के कृतज्ञ होते हैं और तभी उनकी मैत्री प्रेम बन सकती है। और मतों में तो प्रेम हो जाता है, अतएव विवाह होता है, लेकिन भारतीय संस्कृति में तो विवाह हो गया, इसलिए प्रेम किया जाता है। भारतीय संस्कृति में आज भी पत्नी पति वे मृतक शरीर को

लेकर चिता पर चढ़कर जल जाती है। प्रज्वलित दीपक पर पतङ्गे मरते हैं, पर बुझे पति के जीवनपर जलनेवाली भारतीय नारी ही है। तो क्या यह पति-पत्नी की शत्रुता का आदर्श है?

श्री रजनीश का यह कहना भी गलत है कि "वे सेक्स को रूपांतरित करना चाहते हैं, इसलिए वे काम के दुश्मन हैं।" क्योंकि कोयले से हीरा बनानेवला कोयले का दुश्मन नहीं होता। यह कहना तो ठीक ही है कि "जन्मकाल से लेकर शरीर के शक्तिशाली होने तक ऊर्जा इकट्ठी होती है। फिर ऊर्जा के वेग के प्रभाव से बन्द द्वार खुल पड़ता है। गङ्गा जिस मार्ग से बह गयी उसी रास्ते से वह बहती हैं। वह रोज-रोज रास्ता नहीं खोजती। अतः जीवन को सेक्स से मुक्त करने के लिए सेक्स का रास्ता खुलने के पहले ध्यान का रास्ता खुलना आवश्यक है।"

लेकिन इसके सम्बन्ध में उन्हें मालूम नहीं कि गर्भावधान संस्कार से लेकर ही माता-पिता और गुरुजन शिशु का संस्कार करते हैं। संस्कार का अर्थ ही है मल का अपनयन और अतिशयता का आधान करना। जब बालक ध्यान करने लायक नहीं रहता, जब से वह पिता से माता के गर्भ में आता है तभी से उत्पत्स्यमान शिशु का संस्कार किया जाता है। माता-पिता के सङ्कल्पों, विचारों एवं ध्यान-धारणा का संस्कार बालकों पर पड़ता है। गर्भिणी के ध्यान का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पता है। अमेरिका की किसी गोरी मेम को गोरे साहब से काला हब्शी उत्पन्न हुआ था। उसका मूल कारण यही निश्चित किया गया कि उसने गर्भाधान काल में और गर्भिणी-दशा में अपने कमरे में टँगे काले हब्शी का चिन्तन किया था। प्रह्लाद की माँ ने गर्भावस्था में नारद जी से भगवान् की कथा और महिमा सुनी थी, इसीलिए उसका पुत्र प्रह्लाद परमभक्त हुआ।

जातककर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन वेदाध्ययन आदि संस्कारों द्वारा बालक की तनु या देह को ब्राह्मी-तनु बनाने का ही प्रयास किया जाता है।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।

सन्ध्या में ध्यान की ही प्रधानता है। गायत्रीमंत्र में ध्यान पर ही बल दिया गया है और यह योजना पूर्णरूप से सफल होती रही है। जब से विधिनिषेधात्मक शास्त्र की उपेक्षा होने लगी, तभी से विफलता सामने आने लगी। सन्ध्या भी केवल कुछ क्रियामात्र रह गयी। गायत्री केवल जप लेने मात्र की चीज रह गयी।

आज धीरे-धीरे सभी संस्कार लुप्तप्राय हो गये हैं। अब ध्यान भी कैसे होगा? ध्यान की भी कुछ योग्यता, भूमिका होती है। पूर्ण ध्यान की योग्यता हो जाने पर तो विवाह न कर ब्रह्मचर्य से ही संन्यास चल पड़ता था। उन्हें काम की कभी जरूरत ही नहीं पड़ती थी। लेकिन जिनमें वैसी योग्यता नहीं होती थी, उनके लिए वैध कामसेवन की व्यवस्था की जाती थी। साथ ही सन्ध्या, गायत्री आदि द्वारा ध्यान का अभ्यास कराया जाता था। जिस देवता के लिए हविर्दान किया जाय, उसका ध्यान करना अनिवार्य कहा गया है : **'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायन्मनसा वषट् करिष्यन् ।''** फिर भी किसी भी विधान में पथ्यसेवन, कुपथ्य-परिवर्जन आवश्यक है ही। अत: कामाचार ध्यान में बाधक है। उससे बचना आवश्यक है। कुपथ्य से बचने के लिए कुपथ्य का दुष्परिणाम बताना लाभदायक ही है। जो विधि-निषेध से भागेंगे, वे ध्यान में कभी सफल नहीं होंगे।

विधायक द्वारा बनाना ही विधि को प्रश्रय देना है। उसी से अवैध मार्ग का त्याग अनिवार्य हो जायगा। ध्यान का प्रेम सिखाना ठीक ही है। कामविरोधी बातों से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। कुपथ्य से आगाह करना आवश्यक ही है। मोटर चलानेवाले को खतरों से सावधान करना गुण ही है; दोष नहीं। निषेध करने से, उसकी चेतना काम के प्रति सचेत हो जाने मात्र से कोई खतरा नहीं होता। फिर यहाँ तो सैदव अवैध काम से ही सावधान किया जाता है। वैध काम का मार्ग तो प्रशस्त है ही। विद्यार्थियों के लिए अध्ययन का प्रेम सिखाना ही मुख्य है, पर अध्ययन मे बाधकों से केवल सावधान मात्र किया जाता है। उसका ध्यान नहीं कराया जाता।

कहा जाता है कि "कामविरोधी वातावरण से काम-द्वार पर चोट पहुँचने लगती है, अपरिपक्व यौन की दुर्घटनाएँ हो जाती हैं; क्योंकि अभी उनकी ऊर्जा सुरक्षित है। अभी कहीं भी नये द्वार पर धक्के दिये जा सकते हैं, नया द्वार खोला जा सकता है। नये पौधे की शाखाएँ कहीं भी झुक जाती हैं, कभी भी झुकायी जा सकती हैं। बूढ़ा वृक्ष होने पर वैसा सम्भव नहीं।"

किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि औषध का सेवन करनेवाला व्यक्ति कुपथ्य के चिन्तन में तल्लीन हो जाय। योग-शास्त्र में योग-ध्यान का उपदेश है। उसी में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का भी उपदेश है।

यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का और नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान का वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सभी अनृत, स्तेय, काम-परिग्रह के विरोध की ही चीजें हैं। फिर भी इतने मात्र से कोई योग का साधक हिंसा, अनृत, स्तेय आदि में नहीं उलझता और न उसमें प्रवृत्त ही होता है। अतएव ध्यानोपदेश या ध्यानाभ्यास से अपरिपक्व यौन की दुर्घटना की कोई कल्पना नहीं की जा सकती।

साथ ही ऐसा कोई नियम भी नहीं कि ऊर्जा के एक या दो ही मार्ग होते हैं। यह सर्वसम्मत है कि शरीर की अष्टम धातु शुक्र की शक्ति से काम या सेक्स सम्पन्न होता है। उसी धातु से ओज, तेज तथा उच्च विचारशक्ति निष्पन्न होती है। अतएव यह नियम नहीं कि सेक्स होगा तो ध्यान का विचार नहीं होगा या ध्यान होगा तो सेक्स नहीं। उच्चकोटि के कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, व्यास आदि ज्ञान-ध्यान-निष्ठ होते हुए भी नियन्त्रित काम सेवन से दिव्य सन्तान का भी उत्पादन कर सके थे।

यह ठीक है कि "बालकों के निर्मल, कोमल, पवित्र, अन्तःकरण में ही ज्ञान-ध्यान की निष्ठा अधिक सम्भव होती है, वृद्धों के लिए कठिनाई पड़ती है।" फिर भी भारतीय संस्कृति में चतुर्थाश्रम के लिए सामान्यतया

वृद्धावस्था ही नियत है। तब संसार का अनुभव पूरा हो चुका होता है, विवेक-वैराग्य भी स्वाभाविक होता है। इसीलिए अन्तकाल में भी ब्रह्मनिष्ठा से ही प्राणी का बेड़ा पार हो जाता है।

"स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।" (गीता)

कहा जाता है कि "छोटे बच्चे को ध्यान की दीक्षा काम के रूपान्तरण का पहला चरण है। शान्त होने की दीक्षा, निर्विकार मौन होने की दीक्षा। बच्चे वैसे भी शान्त होते हैं। यदि उन्हें कोई शिक्षा दी जाय और उन्हें मौन-शान्त होने के लिए घड़ीभर की शिक्षा दी जाय तो १४वें वर्ष तक काम जगेगा। तब तक उनका एक द्वार खुल चुका होगा। शक्ति इकट्ठी होगी और जो द्वार खुला है, उसी द्वार से उसका बहना शुरू हो जायगा। उन्हें शान्ति का, आनन्द का, कालहीनता का, निरहंकारता का अनुभव सेक्स के अनुभव से बहुत पहले उपलब्ध हो जायगा। वही अनुभव उनकी ऊर्जा को गलत काम से रोकेगा और ठीक मार्ग पर ले जायेगा।"

वस्तुत: यह कथन अविचारित-रमणीय ही है। सामान्यतया ध्यान या मौन से वास्तविक शान्तता और निर्विकारता का उदय नहीं होता। प्रथम धारणा होती है, पश्चात् प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान बनता है। पश्चात् ध्येयमात्र-निर्भास-रूप सविकल्प समाधि बनती है। क्रमश: निर्विकल्प या असंप्रज्ञात समाधि में ही चित्त निर्विकार बन पाता है। फिर भी चित्त की एकाग्रतामात्र से तत्त्वसाक्षात्कार के बिना निरहंकारता नहीं बन सकती। तत्त्वसाक्षात्कार के लिए वेदान्त का श्रवणादि अपेक्षित होता है। ऐसी स्थिति में भी व्यवहारकाल में ज्ञानी पश्वादितुल्य ही प्रमातृ-प्रमाण-व्यवहार करता है। तत्त्वज्ञान या समाधि कोई रोग नहीं है। वह तो वस्तु-तत्त्व का प्रकाशक मात्र है। अतएव ज्ञानियों की भी सन्तानें उत्पन्न होती हैं। अत: वहाँ भी विधि-निषेधानुसारी संस्कार ही ज्ञानी को यथेष्ट चेष्टा से रोक सकता है। ऊर्जा को गलत मार्ग से रोकनेवाला समाधि या तत्त्वज्ञान या निरहंकारता, समशून्यता का अनुभव नहीं करता; क्योंकि विधि-निषेध के संस्कार ही दुर्मार्ग-निवारक, सदाचार

प्रवर्तक होते हैं। जो निषेध से भागेंगे, वे कभी भी गलत मार्ग से रोके नहीं जा सकते। गलत मार्ग से रोकना जब अन्त में आवश्यक है ही, तब तो विधि-निषेध के महत्त्व को मानना ही पड़ेगा। यदि किसी प्रकार का भी काम बुरा नहीं, गन्दा नहीं, पाप नहीं तब फिर गलत मार्ग भी क्या होगा और उससे ध्यान की ऊर्जा भी क्यों रूकेगी? यदि कोई गलत मार्ग है तो उसे पाप, नरक या गन्दा कहना ही पड़ेगा।

यह कहना नि:सार है कि "बच्चे थोड़े ही दिनों में समझ जायेंगे कि माँ-बाप जिससे हमें रोकते हैं, वे स्वयं उसी में लीन हैं और यह पता लगते ही उनकी श्रद्धा समाप्त हो जायेगी। अतएव वर्तमान शिक्षा माँ-बाप के प्रति श्रद्धा-समाप्ति का कारण नहीं है।" किन्तु उनके अपने ही हाथों उनके प्रति श्रद्धा का विलोप होता है। माँ-बाप पर श्रद्धा न होने से परमात्मा में भी श्रद्धा नहीं होगी, क्योंकि माँ-बाप में ही बच्चे को पहले परमात्मा का दर्शन होता है। फिर ऐसे नास्तिकों को परमेश्वर के मार्ग पर लाना असम्भव ही हो जाता है; क्योंकि पहला परमात्मा ही धोखेबाज निकला। फिर विधि-निषेध-संस्कारवाले माँ-बाप कभी भी अवैध काम में लिप्त नहीं होते। अवैध काम-लेप का वे निषेध ही करते हैं।

सच तो यह है कि अकाम-लेप से ही वे अश्रद्धा के भाजन हो सकते हैं, वैध-काम लेप से अश्रद्धा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलत: शास्त्रीय विधिनिषेध से दुश्मनी करानेवाला उपदेश एवं वैसी शिक्षा ही सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है। विधि-निषेध के बिना गलत मार्ग या सही मार्ग का कोई मानदण्ड ही न रह जायेगा। जहाँ "काम ईश्वरीय शक्ति है, परमेश्वर की सृजन-शक्ति है, स्त्री-पुरुष के बीच की खाई अज्ञान है, मूर्खता है। सबको बे रोक-टोक मिलने में कोई बाधा नहीं होगी। सबको नग्न रहने में, सबको सबके अंग की जानकारी में कोई बाधा नहीं होगी। सबके भेद मिट चुके होंगे। काम का निषेध कहीं भी न होगा।" तो फिर किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति या किसी स्त्री का किसी पुरुष के प्रति आकर्षण में क्या बाधा

होगी? यदि बाधा न होगी तो यथेष्ट काम या सेक्स की प्रवृत्ति में क्या बाधा होगी? फिर जब काम निन्द्य है ही नहीं, तो फिर उसमें छिपाने की कोई बात ही नहीं। तब तो खुले आम सभाओं में, बाजारों में, मार्गों में, माँ, बहन और पुत्री में कामप्रवृत्ति होगी। इनका अर्थ होगा, शुद्ध पशुता, और कुछ नहीं।

"किसी स्त्री की किसी पुरुष में या किसी पुरुष की किसी स्त्री में प्रवृत्ति निन्द्य नहीं, दोष नहीं, और उसके छिपाने की बात मूर्खता होगी" तब तो पिता-पुत्री, भाई-बहन में सेक्स के खुले सम्बन्धों में बाधा डालनेवाली कोई शक्ति नहीं रहेगी। फिर ध्यान और निर्विकारता भी क्या करेगी? ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही कहा जा सकेगा कि पशु के समान ये कामुक नहीं होंगे। किन्तु यदि श्वान, गर्दभ, कबूतर आदि के समान मनुष्यों के व्यवहार होने लग जायँ तो कामुक होने, न होने का जीवन पर कोई असर भी नहीं रहेगा।

कहा जाता है कि "सारी दुनिया के लड़के कह रहे हैं कि परमात्मा नहीं है, आत्मा-मोक्ष नहीं है, सब बकवास है। यह नहीं कि उन्होंने पता लगा लिया कि परमात्मा नहीं, केवल माँ-बाप के धोखेबाजी का पता लगा लिया। यह सारा धोखा सेक्स के आस-पास केन्द्रित है। अत: बच्चों को सेक्स पाप है, यह बताने की जरूरत नहीं, किन्तु ईमानदारी से यह सिखाने की जरूरत है कि सेक्स जिन्दगी का एक हिस्सा है। तुम सेक्स से पैदा हुए हो। तब वे जीवन को जान सकेंगे और आदर से भर सकेंगे कि माँ-बाप ईमानदार हैं। यही आस्तिक बनाने का सम्बल है।" किन्तु यह सब केवल अविवेक तथा प्रमाद का दुष्परिणाम है और है वस्तुस्थिति के विपरीत, क्योंकि पशु अपने बालक, बालिकाओं से काम को गन्दा नहीं कहते, प्रत्युत आचरण द्वारा काम का शिक्षण ही देते हैं। फिर भी कोई पशु ईश्वरवादी, आस्तिक या परमात्म-साक्षात्कारवान् नहीं देखा जाता।

* व्यवहारत: आज के लड़कों से पूछें तो बात सर्वथा उल्टी ही निकलेगी। आज कोई भी माता-पिता अपने बालक-बालिकाओं को काम-निन्दा या काम-निरोध का पाठ नहीं पढ़ाते। प्रत्युत उन्हें सिनेमा ले जाते हैं

तो वहाँ वे सब कुछ देखते ही है। फिर भी बच्चे माता-पिता को धोखेबाज नहीं समझते। हाँ, आधुनिक शिक्षण होने के कारण मूर्ख भले ही समझते हों। उनकी नास्तिकता का मूल शास्त्रीय अशिक्षा, आधुनिक शिक्षा एवं आधुनिक वातावरण ही है।

'सेक्स की शिक्षा आस्तिकता का मूल है', यह कहना सर्वथा निर्मूल एवं निष्प्रमाण है। आज की दुनिया आपकी शिक्षा से अपरिचित नहीं।' सेक्स को काम को सब जानते हैं। उसकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। वैध काम की शिक्षा तो माता-पिता और शास्त्र सभी देते ही हैं। शिक्षा ही नहीं, उसकी व्यवस्था भी माँ-बाप ही करते हैं। बालक-बालिकाओं के योग्य होते ही माता-पिता विवाह की व्यवस्था करते हैं और विवाह से पति-पत्नी के उत्तरदायित्वों, कर्त्तव्यों के शिक्षण की व्यवस्था हो जाती है।

कहा जाता है कि ''प्रत्येक बच्चे को एक घण्टे मौन का अभ्यास करना चाहिये। घर के सभी लोग बच्चों को लेकर मौन रहें तो चौदह वर्ष में एक-एक घण्टे का मौन उस दरवाजे को तोड़ देगा। रोज धक्के मारेगा और उससे ध्यान का दरवाजा खुल जायेगा। जिसमें अहंकार-शून्यता और समय शून्यता का अनुभव होता है, वह झलक सेक्स के अनुभव से पहले मिल जानी चाहिए। इससे सेक्स के प्रति अतिशय दौड़ बन्द हो जायगी। ऊर्जा नये मार्ग से बहने लगेगी। यही ध्यान है, ब्रह्मचर्य-साधना में सेक्स को ऊपर उठाने की साधना में पहला चरण। दूसरा चरण है प्रेम। बचपन से ही बच्चों को प्रेम की शिक्षा दी जानी चाहिए। अधिकाधिक प्रेम होने से सेक्स की ऊर्जा प्रेम में रूपान्तरित होकर बँटने लगेगी। जो जितने प्रेम-विहीन होते हैं, वे उतने ही कामुक होते हैं। उतने ही वे सेक्सग्रस्त होते हैं। जितनी जीवन में प्रेम की कमी होगी उतनी उनमें घृणा होगी, उतना ही उनमें विद्वेष होगा। प्रेम की कमी होने से ही ईर्ष्या अधिक होगी। उतनी ही प्रतिस्पर्धा होगी, उतनी ही चिन्ता होगी, दुःख होगा। जिसमें जितना दुःख, चिन्ता, घृणा, द्वेष से ग्रस्त तनाव की पूर्णता होगी, उतना ही उसके विकास का एक ही मार्ग

रह जाता है और वह है सेक्स। प्रेम शक्तियों का विकास बनता है। प्रेम सृजनात्मक है और एक तृप्ति लाता है। वह तृप्ति सेक्स की तृप्ति से बहुत ज्यादा गहरी और कीमती होती है। दान में तृप्ति होती है, छीनने में नहीं। तृप्ति का रस आनन्द का रस है। सेक्स से जो तृप्ति क्षणभर के लिए होती है, वह प्रेम से २४ घण्टे रहती है। व्यक्तित्व का अधिक विकास प्रेम के मार्ग पर होना चाहिए। प्रेम करें, प्रेम दें और प्रेम में जियें।''

ये बातें अंशतः ठीक हो सकती हैं, किन्तु मौन भी एक नियम है, एक संयम है और एक निषेध भी। वाणी पर रुकावट, बोलने पर रुकावट ही 'मौन' है। हमारे शास्त्र भी तो यही कहते हैं :

''**वाच्यं यच्छ मनो यच्छ यच्छ सर्वेन्द्रियाणि च।**'' (भागवत)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'वाणी का संयम करो, मन का संयम करो, सब इन्द्रियों का संयम करो।' जो निषेध से तथा नियन्त्रण से परहेज करेगा, क्या वह वाचं यम होने का प्रयत्न करेगा? वास्तव में बिना मन एवं इन्द्रियों का संयम किये जैसे ब्रह्मचर्य या संन्यास का आचरण यथा-कथञ्चित हो रहा है, वही स्थिति मौन की भी होगी। ऐसे मौनों से कभी भी निर्विचारता या अहंकारशून्यता नहीं बन सकती। अन्त में वही राजमार्ग अपनाना पड़ेगा। वैदिक काम-कर्मज्ञान से पाशविक काम-कर्मज्ञान का अतिक्रमण करना और ब्रह्मविद्या से अमृतत्व-लाभ का मार्ग ही अद्वितीय मार्ग है : ''**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**'' इसे काम या सेक्स का रूपान्तरण कहना निराधार ही है।

इसी तरह प्रेम भी सेक्स का काम का रूपान्तरण नहीं। वह न कोई नई विद्या है और न नई शिक्षा। संसाराभिमुख मन बन्धन का हेतु है तो भगवदभिमुख मन मोक्ष का हेतु है। बाल्यावस्था से ही केवल मन ही नहीं, वाणी और इन्द्रियों को भी परमार्थाभिमुखता इन सबका रूपान्तरण है। उस दशा में शुक्रधातु का कामसेवन में अपव्यय न होकर ओज, तेज तथा ज्ञान-विज्ञान में उसका रूपान्तरण स्वाभाविक है। परमात्म-सम्बन्ध का प्रेम ही

सबमें होता ही है। जैसे कोई वस्तु सत्ताशून्य नहीं, वैसे ही कोई वस्तु प्रेम-शून्य भी नहीं है।

पीछे कहा ही जा चुका है कि प्रेम आत्मा का स्वरूप है। उसी का विकृतरूप लौकिक प्रेम है। सौन्दर्य में प्रेम अपने आप होता है। प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है। जो किया जाता है, वह कृत्रिम है; वैध है, साध्य है, सापेक्ष है और है सातिशय। आत्मा या ईश्वर में प्रेम ही स्वाभाविक, नित्य और निरतिशय है। पाषाणादि जड़ भी भगवान् के महाविराट् स्वरूप के एक अंग हैं। उनसे प्रेम भगवान् से ही प्रेम है। फिर भी व्यवहार में अभ्यासवशात् सौन्दर्य-भावना, हितभावना बढ़ती है। उसी के आधार पर प्रेम भी घटता-बढ़ता है। इसी दृष्टि से पितृ-प्रेम एवं कर्तव्य-प्रेम की बातें चलती हैं।

निर्हेतुक-प्रेम सुसूक्ष्म हेतु की भी अपेक्षा नहीं रखता। कहा ही है :

"आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि।
क्षीप्रेतानि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदु:खद्रुहः साम्प्रतं।
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता-लाघवम्।।"

प्रेम आविर्भूत होने के लिए सुसूक्ष्म हेतु की कभी अपेक्षा नहीं करता। न तो वह किसी अपराध से क्षीण होता है और न नमस्कार आदि से वृद्धि को ही प्राप्त होता है। जो पीयूष का प्रतिवादी है, त्रिजगती के दुःख का द्रोही है, उस गुरुत्तर प्रेम को वाणी पर लाना उसकी लघुता ही प्रकट करना है।

यह प्रेम सोपाधिक है। आश्रय-विषय से सापेक्ष है। प्रेम का कोई आश्रय होता है तो कोई उसका विषय। उसी में अपराध से क्षीणता और नीति से वृद्धि की संभावना हो सकती थी, जिसका कि पूर्ण निषेध किया गया है। किन्तु आत्म-प्रेम सर्वथा निरुपाधिक है। जहाँ आत्मा ही प्रेमाश्रय और प्रेम-विषय हो, वहीं प्रेम का पूर्ण विकास होता है। जैसे राधा-कृष्ण, सीता-

राम, कामेश्वरी-कामेश्वर। वही एक ज्योति दो रूपों में प्रकट है। "एकं ज्योतिरभूद् द्वैधा......" जो सम्पूर्ण जगत् को आत्मा ही देखते हैं, उनके लिए जड़-चेतन का भेद समाप्त हो जाता है। उन्हीं का प्रेम सर्वव्यापी प्रेम है। वे सबके प्रिय और सबके हितकारी होते हैं :

सबके प्रिय सबके हितकारी।
सुख दुख सरिस प्रशंसा गारी।।

(रा० मा० १/१२८/२)

किन्तु लोक में इस आत्म-प्रेम से भिन्न प्रेम हो जाता है। उसी में एकनिष्ठता का एक रूप है। अनन्यनिष्ठता भी प्रेम की एक विशेषता है। भ्रमर अरविन्द-मकरन्द का प्रेमी, रसिक कहा जा सकता है, पर अनन्य नहीं है। क्रमेण या एक काल में ही अपरिगणित पद्मों का प्रेमी हो सकता है। लेकिन मीन जल का। चातक तो जल में भी स्वाती-बिन्दु का ही प्रेमी है। इसी दृष्टि से माता, पिता, पत्नी, भगिनी, दुहिता आदि के विभिन्न प्रकार के प्रेम होते हैं। किन्तु आत्म-प्रेम, ईश्वर-प्रेम पारमार्थिक प्रेम है। संसार से ऊपर उठे लोगों के लिए उसी का सर्वोपरि महत्त्व है। फकीर की झोपड़ी में अपरिचित मित्रों एवं गधे के लिए ससम्मान स्थान मिल जाता है लेकिन अमीरों के महलों में मनुष्यों से भी गधों जैसा व्यवहार होता है। यही सर्वात्मभाव का महत्त्व है, सर्वत्र ऐकात्म्य के अनुभव का माहात्म्य है।

उत्तम शास्त्राभ्यास तथा उत्तम सज्जनसंग से जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम और दया का भाव जगाया जा सकता है। इसी दृष्टि से सनातनधर्म में कीट-पतंग, पशु-पक्षी, काक-श्वान, पिपीलिका, प्रेत-पिशाच, नाग-सर्प की भी तृप्ति और पूजा का प्रबन्ध किया गया है। उसी के प्रभाव से शिबि ने कपोत के रक्षार्थ अपने शरीर के मांस का दान किया और अन्त में अपने आपको श्येन के लिए प्रदान कर दिया था। जीमूतवाहन ने नाग के रक्षार्थ अपने आप को गरुड़ का भक्ष्य बना। अनेक बोधिसत्वों की कथाएँ इसी प्रेम, दया तथा परहितकारिता के प्रेरणा की परिणाम हैं।

अहन्ता-ममतामूलक प्रेम लौकिक है। अहन्ता-ममताहीन प्रेम या विकसित अहन्ता-ममता की आस्पद समष्टि में ममता विराट् की ममता है। उस निष्काम, निरपेक्ष, निर्हेतुक प्रेम दया और त्याग या समर्पण से सुख, शान्ति एवं तृप्ति, बड़ी ऊँची तृप्ति होती है। यह सब शास्त्रविश्वास एवं शास्त्रीय साधनाओं का ही परिणाम है। इसमें काम और सेक्स का निरोध सरल हो जाता है।

यह कहना असंगत नहीं कि "प्रेम और ध्यान मिलकर उस दरवाजे को खोल देते हैं जो परमात्मा का दरवाजा है। उससे जीवन में ब्रह्मचर्य फलित होता है। सेक्स ऊर्जा का अधोगम है। ब्रह्मचर्य ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन है। ध्यान और प्रेम दोनों ही साधनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इससे प्राणी की योग्यता एवं जीवनस्तर बहुत ऊँचा हो जाता है, ब्रह्म-साक्षात्कार सुगम हो जाता है।" फिर भी उसमें संयम और विधि-निषेध का ध्यान, कुपथ्य परिवर्जन और अनुपान सेवन अत्यावश्यक है। मौन, ध्यान और प्रेम की परख शास्त्र एवं शास्त्रार्थ-परिनिष्ठियों की पैनी दृष्टि से ही प्रमाणित होनी चाहिए।

रामायण के पठन-पाठन में संलग्न विद्यालय में शिव-धनुष किसने तोड़ा, यह प्रश्न और उसके उत्तर भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत होते हों, परन्तु आज तो **'आम्रान् पृष्ठः कोविदारानाचष्टे'** इस तरह प्रश्न कुछ और, उत्तर कुछ और की कहानी सामान्य-सी हो गयी है।

यह भी ठीक है कि "संतान पैदा कर लेना ही काम की सम्पूर्ण जानकारी नहीं। हजारों मील कार चला लेना ही कार के कल-पुर्जों की पूरी जानकारी नहीं। बिजली को जला या बुझा देना ही विद्युत की जानकारी नहीं।" किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि "काम के सम्बन्ध में अभी तक कोई विज्ञान विकसित ही नहीं हुआ।" कारण, इतिहास पुराण एवं तन्त्रों तथा कामशास्त्रों में काम पर पर्याप्त विचार है ही। यह दूसरी बात है कि आपके कोई निजी काम-संबंधी विचार उक्त शास्त्रों में न हों।

वैसे मोटर चला लेना भी एक विद्या है, पर मोटर-निर्माण कर लेना

दूसरी विद्या है । बिजली जला या बुझा लेना, उसकी गड़बड़ी ठीक कर लेना भी एक विद्या है, जबकि विद्युत के आविर्भाव की विद्या भी एक स्वतन्त्र विद्या है । विद्युत एवं मोटर-निर्माण सम्बन्धी यन्त्रों का निर्माण करना उससे भी और सूक्ष्म विद्या है । जिन तत्वों से यन्त्रों का निर्माण होता है, उनके प्रभेदों को जानना उससे भी पृथक् विद्या है । इसी प्रकार काम एवं सेक्स के हेतुओं, परिमाणों के सम्बन्ध में अनेक विद्याएँ हो सकती है । यह बात साधारण भोजन, पान आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है ।

किन्तु यह कहना और भी गलत है कि ''सेक्स का पूर्ण विज्ञान जब विकसित होगा, तो फिर कुरूप एवं अपंग मनुष्य पैदा करने की जरूरत नहीं रह जायेगी ।'' क्योंकि वैसा पैदा करने की जरूरत न होने पर भी दुर्भाग्यवश ही वैसे मानव उत्पन्न होते हैं। संसार में यदि ईश्वर न हो, धर्माधर्म न हो और भौतिकवाद का ही पूर्ण साम्राज्य हो तब तो दूसरी बात है। अन्यथा जबतक मानवसमाज आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी पूर्ण मानवसमाज नहीं बन जाता, तब तक कुरूप और अपङ्ग मानव की उत्पत्ति रुक नहीं सकती ।

वैसे इस पदार्थविज्ञान की खोज अभी बहुत बाकी है । काम की शक्ति काम की प्रक्रिया से ही एक सूक्ष्म शुक्राणु चेतनावान् होकर हस्तपाद, दिल-दिमाग और मस्तिष्क से सम्पन्न मानव बन जाता है । ऐसा क्यों होता है, कैसे होता है, यह प्रकृति की, ईश्वर की विचित्रता है ।

कहा जाता है कि ''जो व्यक्ति सम्भोग की पूरी बात को जानने में समर्थ होता है, उसके लिए सम्भोग व्यर्थ हो जाता है ।'' लेकिन यह बात तो वैसी ही है जैसे कोई कहे कि जब मोटर-निर्माण की पूरी जानकारी हो जाती है, तब मोटर-निर्माण व्यर्थ हो जाता है । ''सम्भोग के पूरे ज्ञान से ब्रह्मचर्य की प्राप्ति हो जाती है ।'' यह बात भी वैसी ही है, जैसे यह कहना कि अन्धकार के ज्ञान से पूरे प्रकाश की प्राप्ति हो जाती है ।

कहा जाता है कि ''जो ब्रह्म को उपलब्ध हो गया है वह अतिचेष्टा से

ही विगत जन्मों का स्मरण कर इस सम्बन्ध में कुछ कह सकता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य को उपलब्ध व्यक्ति ही काम और सम्भोग के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य कह सकते है।'' किन्तु ये बाते सर्वथा निःसार हैं। ब्रह्मविद् प्रपञ्चातीत, निष्प्रपञ्च ब्रह्म को जानता है। उसका जन्मान्तर-स्मरणों से कोई भी सम्बन्ध नहीं। योगशास्त्र ने तो जन्मकथन्ताज्ञान अपरिग्रह की स्थिरता का फल माना है। आज भी कई 'जाति' स्मर मिलते हैं, पर वे ब्रह्मवित् नहीं होते। अनेक ब्रह्मवित् होते हैं, पर वे जातिस्मर नहीं होते। जातिस्मरता से भी किसी से इस संबंधविशेष ज्ञान की आशा नहीं करनी चाहिये। जिसे एक जन्म के अनुभव से काम के सम्बन्ध में जानकारी नहीं मिली, उसे अनेक जन्मों के अनुभवों से भी वह सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्य प्राप्त व्यक्ति का पूर्ण लक्षण यह है कि उसे स्वस्थ, सावधान, जागरणदशा में भी अष्टविध मैथुनों और उसके साधनों का स्मरण न हो। काम एवं कामित पदार्थों तथा उसकी विधि प्रक्रियाओं का अनुभव और स्मरण ब्रह्मचर्य के विरुद्ध ही है। ब्रह्मचर्य की तथाकथित परिभाषा अप्रामाणिक तथा असङ्गत ही है।

कहा जाताहै कि "गहराई से खोज करनेवालों को यह सूत्र उपलब्ध हुआ है कि अगर सम्भोग एक मिनट तक रुकेगा, तो आदमी दूसरे दिन फिर सम्भोग के लिए लालायित होगा। अगर तीन मिनट तक रुक सके तो एक सप्ताह तक उसे शायद काम की इच्छा न होगी। अगर सात मिनट तक रुक सके तो तीन महीने के लिए इस तरह मुक्त हो जायेगा कि उसकी कल्पना में भी काम का विचार प्रविष्ट न हो पायेगा। अगर तीन घण्टे तक रुक सके तो जीवन भर के लिए मुक्त हो जायगा, जीवन में उसकी कल्पना भी नहीं उठेगी। परन्तु सामान्यतः क्षणभर का अनुभव है मनुष्य का। तीन घण्टे की कल्पना भी मुश्किल है। अगर तीन घण्टे सम्भोग की स्थिति में उस समाधि की दिशा में व्यक्ति रुक जाय तो एक सम्भोग पूरे जीवन के लिए सेक्स से मुक्त करने के लिए पर्याप्त है। वह इतनी तृप्ति पीछे छोड़ जाता है, इतना

अनुभव, इतना बोध छोड़ जाता है कि जीवनभर के लिए पर्याप्त हो जाता है। एक ही सम्भोग के बाद व्यक्ति ब्रह्मचर्य को उपलब्ध कर सकता है।"

यह है श्री रजनीश की कामसम्बन्धी खोज और गहराइयों में गये लोगों के अनुभव का संग्रह। वस्तुतः विचार करने पर यह सूत्र सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि कितने ही इसके लिए रहस्यज्ञ भी हैं जो युक्ति से एक-एक स्त्री को आठ-आठ बार तृप्त कर देते अथवा ऐसी अनेक स्त्रियों को तृप्त कर देते है। ऐसी स्त्रियाँ तो सहस्रों नहीं, लाखों हैं जो पाँच-पाँच, सात-सात पुरुषों को तृप्त करने के बाद तृप्त होती हैं। किन्तु इतने मात्र से उनकी तृप्ति में कोई विशेषता नहीं होती। बाह्य साधनों, उपकरणों द्वारा तो घण्टों सम्भोग-निरोध होने में कोई बाधा नहीं होती, फिर भी कोई समाधि का अनुभव नहीं होता।

आप कहते हैं कि "सम्भोग-क्षणों में श्वास जितनी तेज होगी, संभोग उतना ही छोटा होगा। जितनी शान्त और शिथिल होगी, सम्भोग का काल उतना ही लम्बा हो जायगा। अगर श्वास को बिल्कुल शिथिल रखने का अभ्यास किया जाय, तो सम्भोग-क्षणों को कितना ही लम्बा बनाया जा सकता है। उतना ही सम्भोग समाधि का द्वार बन सकेगा। उसमें निरहंकारता और समयशून्यता का अनुभव शुरू हो जायगा। श्वास शिथिल होते ही सम्भोग की गहराई, अर्थ और नये उद्घाटन शुरू हो जायँगे। दूसरी बात, सम्भोग के क्षण में ध्यान दोनों आँखों के बीच होनी चाहिये जहाँ योग आज्ञाचक्र को बताता है। वहाँ अगर ध्यान हो तो सम्भोग की सीमा और समय तीन घण्टे तक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा एक सम्भोग भी सदा के लिए ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित कर दे सकता है—न केवल एक जन्म के लिए, किन्तु अगले जन्म के लिए भी। ब्रह्मचर्य का अन्य कोई रास्ता है ही नहीं।"

किन्तु यह कथन भी अर्ध-सत्य ही है। यह अंश सत्य है कि श्वास-शैथिल्य और आज्ञाचक्र में ध्यान से सम्भोग-समय में वृद्धि होती है। वस्तुतः उत्तेजना-विशेष से ही श्वास-वेग और सम्भोगों में तन्मयता बढ़ती है।

तन्मयता से ही शीघ्रता बढ़ती है। किसी अभीष्ट अल्पवस्तु का किसी भी चक्र में ध्यान या अन्यमनस्कता मात्र से भी उत्तेजना में शिथिलता होना, कामविलम्ब होना सरल होता है। लेकिन इतने से ही सदा के लिए तृप्ति या ब्रह्मानुभव हो, यह सम्भव नहीं और इसके बिना भी इस जन्म में या जन्मान्तर में जिसने स्वधर्मानुष्ठान से बुद्धि को पवित्र कर लिया है और जो शान्त-समाहित, श्रद्धावान् होकर वेदान्त (उपनिषद्) का परम्परा से श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है, वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों तथा मिथुन-सम्बन्धजनित सुख-विशेषों के स्रष्टारूप या दृश्यातिरिक्त स्फुरण के रूप में देश और काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य अखण्ड भान का अनुभव कर सकता है।

किसी भी समय शान्त-निर्वृत्तिक चित्त पर अखण्ड-बोध को महावाक्यों द्वारा स्वात्मरूप से पहचाना जा सकता है। सर्वत्र भास्यहीन अखण्ड भान का ही स्फुरण होने पर स्त्री-पुरुष के ही क्यों, संसार के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं।

आप की दृष्टि से भी सेक्स या काम अंधेरी और धुएँ से भरी, सीलन और बदबू से भरी कोठरी है और उससे बाहर निकलना जरूरी है, तो अन्त में आप भी तो उसी कामनिन्दा के मार्ग पर ही आ गये। आखिर कामुकता, अश्लीलता की निन्दा तो आप भी करते ही हैं। यदि काम परमेश्वरीय शक्ति है तब तो जितनी अधिकाधिक उसकी उपासना, उसमें तन्मयता हो, उतना ही अच्छा। फिर उससे बाहर निकलने की बात, ब्रह्मचर्य की बात ही क्यों सोचते हैं? विषय या काम से आँख मीचना आपको भी अभीष्ट ही है। तभी तो अनेक जन्मों तक उसकी स्मृति न करने को आप भी महत्त्व देते हैं।

सम्भोग में पवित्र भावना, परमात्मा के निकटतम होने की भावना वैध कामसेवन में अनुचित नहीं, वह लाभदायक ही है।

कहा जाता है कि ''स्त्री-पुरुष के सम्मिलन में पहली बार अहंकार टूटता है।'' किन्तु यह सही नहीं, प्रेम, आत्म-समर्पण, अनुराग तथा

तन्मयता में भी अहंकार का अस्तित्व रहता ही है। शास्त्रीय दृष्टि से केवल सुषुप्ति में ही अहंकाराहित्य होता है। अथवा पूर्ण एकाग्रता में अर्थात् वृत्तिरूप प्रमाण के निरुद्ध होने पर जब प्रमाण का आश्रय प्रमाता और प्रमेय भी भासित नहीं होता, वही निरहंकारिता का समय है। स्त्री-पुरुष मिलन में तन्मयता होने पर भी वैसी वृत्ति या निरोधावस्था कभी उत्पन्न नहीं होती।

कहा जाता है कि "माँ के पेट से बच्चा निकलता है, उसके प्राणों में दिन-रात उसके मन में एक ही बात लगी रहती है कि जैसे किसी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया गया है, उस पूरे वृक्ष में तड़फड़ाहट रहती है कि जमीन से वह कैसे जुड़ जाय; क्योंकि जमीन से जुड़ने पर ही उसे प्राण; जीवन मिलता था। जमीन से उखड़ने पर उसकी सारी जड़ें चिल्लायेंगी कि मुझे जमीन में वापस भेज दो। उसके सारे प्राण यही चाहेंगे।" वैसे ही माँ के पेट से निकला वँह बच्चा सारे जीवन और जगत् से टूट गया। उसमें भी जुड़ जाने की कामना होती है, उसी प्रकार का नाम है प्रेम की प्यास। हर व्यक्ति प्रेम पाना चाहता है। प्रेम का मतलब यही है—"मैं टूट गया हूँ, अलग हो गया हूँ, पुनः जुड़ जाऊँ। इस जुड़ने का गहरा से गहरा अनुभव होता है।.

"मनुष्य को सेक्स के अनुभव में, स्त्री-पुरुष के मिलन में यह पहला अनुभव है जुड़ने का। जो व्यक्ति इस जुड़ जाने के अनुभव को प्रेम की प्यास जुड़ने की आकांक्षा के अर्थ को समझेगा, वह व्यक्ति एक-दूसरे के अनुभव को भी शीघ्रता ही उपलब्ध कर सकेगा। योगी भी जुड़ता है और सन्त भी। संभोग में भी दो व्यक्ति जुड़ते हैं, दोनों एक हो जाते है।" लेकिन विचार करने पर ये बातें भी तथ्यहीन और अविचारित रमणीय ही हैं।

यह ठीक है कि दीर्घकालीन संसर्ग के कारण ही माता को पुत्र में प्रेम होता है, उसी कारण पुत्र को भी माता में प्रेम होता है। यह भी ठीक हो सकता है कि उसी सम्बन्ध में एक पेट से पैदा होनेवाले भाई-बहनों में भी प्रेम होता है। यह भी सम्भव है कि उस प्राणी का शुक्र-रूप में पिता के शरीर में

निवास होने के कारण ही उसे पिता से भी प्रेम होता है। किन्तु उस मिलने में और काम-मूलक स्त्री-पुरुष के मिलन में महान् अन्तर है। माता-पुत्र के मिलन में एवं भाई-बहन के मिलन में काम की गंध भी नहीं है। भरत और राम मिले, भाई-भाई मिले, प्रेम से मिले—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भुलाकर मिले फिर भी उस मिलन में काम नही था। मित्र-मित्र भी मिलते हैं, लोकोत्तर आनंद होता है पर उसमें काम की गन्ध नहीं रहती। स्त्री-पुरुष का मिलन विलक्षण ढंग का होता है। वह उत्तेजक होता है। उसमें तेज-क्षरण होता है। अन्य सम्मिलनों में वैसी उत्तेजना भी नहीं, क्षरण भी नहीं होता। वे लोग सर्वथा मनोविज्ञान से अपरिचित है, जो हर एक सम्मिलन या हर-एक प्रेम में काम की गन्ध पाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रेम जड़ का धर्म नहीं, आत्मा का धर्म है। प्रेम आत्मा में ही मुख्यरूप से होता है। आत्मा के लिए ही अन्य में प्रेम होता है। अन्य में जितनी सुख-साधना है, उतना ही प्रेम होता है। प्रेम की अभिव्यंजना में भेद असह्य होता है। सम्बन्ध से संसर्ग से प्रेम व्यक्त होता है। आत्मा के सम्बन्ध होने के कारण शरीर में प्रेम होता है। शरीर से असाधारण सम्बन्ध के कारण ही पति में प्रेम होता है। उससे भी अधिक सम्बन्ध गर्भस्थ शिशु में होता है। इसीलिए उसमें भी प्रेम अधिक होता है। प्रेम जहाँ भी व्यक्त होता है, वहाँ अभेद की अभिव्यक्ति होती है।

प्रमाता के शरीर से अन्तःकरणगत तैजस द्रव्य चक्षुरादि द्वारा प्रेम सुख-साधन अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर तदाकाराकारित हो जाता है। अभीष्ट रागास्पद पदार्थ को ग्रहण करता हुआ वह तैजस अन्तःकरण राग के उद्रेक से द्रवीभूत हो जाता है। जैसे भयजनक सर्पादि पदार्थ के ग्रहण से भय का उद्रेक होता है। रागोद्रेक से द्रवीभूत अन्तःकरण में उस पदार्थ का आकार स्थिर हो जाता है। इसीलिए अन्तःकरण-स्थित तदाकारता को ही 'स्थायिभाव' कहते हैं। वह स्थायिभाव उद्दीपन और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट होता है। साथ ही जैसे घट एवं मठ दो उपाधियों के इकट्ठा होने पर दोनों से उपहित

घटाकाश एवं मठाकाश की एकता होती है, वैसे ही अन्त:करण और श्री आदि दोनों उपाधियों के एकत्रित होने से दोनों उपहितों अर्थात् प्रमातृ-चैतन्य (पुरुष) और प्रेम-चैतन्य (स्त्री) दोनों की एकता हो जाती है। उस समय विषयावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त स्त्री विषयाविच्छिन्न चैतन्याभिन्न प्रमातृ-चैतन्य में भी अध्यस्त होती है। इसीलिए प्रमाता स्त्री-चैतन्य से आत्म-चैतन्य के अत्यन्त अभेद का अनुभव करता है और स्त्रीरूप उपाधि का भी अपने से तादात्म्य का अनुभव करता है। तब उसी स्थाय्यवच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति को 'रसाभिव्यक्ति' कहा जाता है।

ईश्वर, गुरु आदि सम्बन्धी स्थाय्यवछिन्न चैतन्य को भक्ति कहते हैं। कान्तादिसम्बन्धी स्थाय्यवच्छिन्न चैतन्य को शृङ्गार कहते हैं। प्रेम या रस की अभिव्यक्ति में अत्यन्त तादात्म्य, अभेद व्यक्त होता है। भेद या व्यवधान का अपनोदन हो जाता है। इसीलिए दो प्रेमियों का प्रेम एक-दूसरे को समीप लाता है, भेद-व्यवधान दूर करता है। इसीलिए माता प्रेम के उद्रेक में पुत्र को देखना चाहती है, उससे मिलना चाहती है, अपने हृदय से चिपकाना चाहती है। पति-पत्नी कामी-कामिनी दोनों का प्रेम दोनों को मिलाता है, सर्वथा व्यवधानशून्य करता है। कंचुकी और भूषण के व्यवधान को मिटाकर, रोमाञ्चक-व्यवधान को भी मिटाकर ऐक्य स्थापना का प्रयास होता है :

"आदर्शनि दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वङ्गरसैकलोला: ।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम् ।।"

श्रीकृष्ण की पटरानियां तो कृष्ण से मिलने के लिए व्यवधान-अपनयन के लिए आसन से और आशय (अन्त:करण) से भी उत्थित होकर मिलीं, पञ्चकोश-कंचुकी का व्यवधान हटाकर अत्यन्त अभेदभाव से तादात्म्य-भाव से मिलीं : **"उत्तस्थुराराात् सहसासनाशयात् ।"** इसी तरह पेट से निकलनेवाला जहां से निकला है, उसमें वात्सल्यभाव से मिलना चाहता है। उस सम्बन्ध का सेक्स से, काम से कतई सम्बन्ध नहीं। भले ही गर्भ भी पति का ही रूपान्तर हो, तब भी वह रूपान्तर होने से ही उसमें काम-भिन्नता भी आ जाती है।

भोक्ता भी भोग्य से स्वात्म-तादात्म्यापादन करना चाहता है। जैसे सूर्य रश्मियों से भोग्य रस को स्वात्मसात् करता है, वैसे ही भोक्ता भोग्य को स्वात्मसात् करना चाहता है। जीवात्मा परमात्मा से भी मिलकर, जुड़कर अभिन्न होने का प्रयास करता है। व्यक्ति अनन्त में मिलकर उपाधि भङ्ग कर अनन्त हो जाता है। दो सीमित व्यक्तियों का पूर्ण सम्मिलन नहीं होता इसी से वे अत्यन्त अभेद के लिए व्याकुल रहते हैं।

यह तो ठीक ही है कि "जब एक क्षण के मिलन में इतना आनन्द है तो अनन्त-अनन्तकाल के मिलन में होनेवाले आनन्द की कोई सीमा नहीं हो सकती।" किन्तु स्त्री-पुरुष का बाह्य सम्मिलन भले ही सीमित हो, परिच्छिन्न हो, परन्तु उनकी जो शृङ्गार-रसात्मक अभेद-व्यंजना है, वह अपरिच्छिन्न ही होती है; क्योंकि अभेदाभिव्यक्ति-काल में व्यवधायक उपाधियों का तिरोधान ही हो जाता है। अतृप्ति-तृप्ति ही प्रेम का स्वरूप भी है। वह अतृप्ति तो अनन्त में भी बनी ही रहती है। इसीलिए तो अनन्तसौन्दर्य-सारसर्वस्व की अधिष्ठात्री श्रीराधा और अनन्त-प्रेमसार-सर्वस्व का अधिष्ठातृ-दैवत कृष्ण दोनों ही अनादि-अनन्त होते हुए भी, सदैव सम्मिलित रहते हुए भी, अनन्त तृप्ति का अनुभव करते हुए भी, अनन्त अतृप्ति का अनुभव करते रहते हैं : **"मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना।"** संसार की स्थिति इससे भिन्न होती है। विप्रलम्भ में ही उत्कण्ठा होती है और उत्कण्ठा में ही लोकोत्तर सुख होता है। किन्तु जिसके सम्मिलन की उत्कण्ठा हो उसकी अप्राप्ति में, विश्लेष में व्याकुलता होती है। जब उसकी प्राप्ति हो जाती है, तो विश्लेष मिटकर व्याकुलता मिट जाती है; तब उत्कण्ठा मिट जाती है। उत्कण्ठा के बिना प्रिय वस्तु के मिलने पर भी उसमें उतना स्वाद नहीं होता; क्योंकि प्रियता का मूल उत्कण्ठा ही है। यह असामञ्जस्य बना ही रहता है। किन्तु राधा-कृष्ण, कामेश्वरी-कामेश्वर जैसे दिव्य दम्पतियों में तो सम्मिलनकाल में भी असम्मिलनकाल की-सी उत्कट उत्कण्ठा बनी ही रहती है। सदा-सर्वदा सारस-लक्ष्मणा से भी कोटि-कोटि गुणित सम्मिलन-सुख और चक्रवाक-

चक्रवाकी से भी कोटि-कोटि गुणित विप्रलम्भन बना ही रहता है। अतएव समकाल में ही सदा-सर्वदा विप्रलम्भ शृङ्गार-रस समुद्र और सदैव सम्भोग शृङ्गार-रससमुद्र उद्बुद्ध एवं उद्वेलित रहते हैं।

किं बहुना, सम्प्रयोगात्मक और विप्रलम्भात्मक उद्बुद्ध-उद्वेलित उभयविध शृङ्गार-रससुधासिन्धु-सारसर्वस्व ही राधा हैं। राधा-हृदयस्थ भावसमुद्र-समुद्भूत चन्द्र कृष्ण हैं। कृष्ण हृदयस्थ भावसमुद्र-समुद्भूत चन्द्र राधा हैं। फिर भी उस अनन्त सुख की तुलना लौकिक स्त्री पुरुष सम्मिलन से नहीं ही की जा सकती। 'उस सुख से सामने काम सुख तुच्छ और पागलपन प्रतीत होगा।' यह भी ठीक ही है। 'समाधिसुख के उत्कर्ष की अनन्तता की बात' भी ठीक ही है। 'दीप की जानकारी से सूर्य की प्यास की ओर, सङ्गीत के छोटे से अनुभव से परमसङ्गीत की ओर जाया जा सकता है। प्रकाश के छोटे अनुभव से अनन्त प्रकाश की ओर जाया जा सकता है। बूँद को जानना पूरे सागर को जानने का पहला कदम हैं'—यह भी सही है किन्तु यह बिन्दु काम या सेक्स ही क्यों? प्रत्येक चेतना की सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान और सीमित आनन्द है। उसका ज्ञान ही नि:सीम सत्ता, नि:सीम ज्ञान एवं नि:सीम आनन्द के जानने और पाने का मार्ग है। उन सीमित आनन्दों में ही एक कामसुख भी है।

वस्तुत: सीमित नि:सीम नहीं बन सकता। किन्तु नि:सीम में ही अज्ञानों, उपाधियों के कारण सीमितता की स्फूर्ति होती है। अज्ञान-आवरण उपाधि के भङ्ग होने पर नि:सीम सत्ता नि:सीम ज्ञान, नि:सीम आनन्द का स्फुरण होता है। अतएव वैध कामजनित सुख का भी नि:सीम सुख के अनुभव में उपयोग हो सकता है। किन्तु सम्भोग स्वयं समाधि नहीं बन सकता न वह स्वयं समाधि है। हाँ, सदुपयोग या दुरुपयोग हर वस्तु का हो सकता है। इस दृष्टि से समाधि में, तत्त्वज्ञान में वैध काम का वैध-मर्यादित परिष्वङ्ग-सुख का उपयोग किया ही जाता है।

''स्त्री-पुरुष 'निगेटिव' और 'पाजिटिव' विद्युत के 'पोल्स' हैं। विधायक

एवं नकारात्मक दो छोर हैं। उन दोनों के मिलने से सङ्गीत पैदा होता है''— यह सही है। किन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि उससे सन्ततिरूप प्रकाश पैदा होगा। ''उत्तरारणि और अधरारणि के संघर्ष से आग उत्पन्न होती है। आचार्यारणि और शिष्यारणि से विद्या की व्यक्ति होती है। माता और पितारूप अरणि से सन्तति उत्पन्न होती है। स्त्री और पुरुष का युगल यदि सम्भोग में आधे घण्टे के बाद तक स्थिर रह सके तो दोनों के पास प्रकाश का एक बल्ब, प्रकाश का एक घेरा निर्मित होगा। दोनों की देह-विद्युत जब पूरी तरह मिलती है तो आस-पास अन्धेरे में भी एक रोशनी दिखाई पड़ने लगेगी। उसके फोटो भी लिए जा सकते हैं।'' यह केवल काल्पनिक बात और अतिरंजित वर्णन है। कारण ऐसे युगल सम्भव नहीं है। हाँ, उन्हें उत्तम तृप्ति होती है, यह ठीक है।

संसार के बड़े-बड़े महापुरुष, महादेवियाँ व्यवहारत: काम से उत्पन्न होते हैं—इसमें किसी का मतभेद नहीं है। पर वह सब वैध काम, नियन्त्रित-संयमित काम का ही परिणाम है। अतएव काम की शिक्षा आवश्यक नहीं। आवश्यकता है शास्त्रीय विधि-निषेध के ज्ञान की और उसके पालन की। उसी से उत्तमोत्तम महापुरुषों का जन्म हो सकेगा।

वास्तव में भूखे आदमी को सर्वत्र भात ही भात दिखाई देता है। इसी तरह श्री रजनीश को सर्वत्र सम्भोग ही सम्भोग परिलक्षित होता है। वे कहते हैं : 'सम्भोग की अव्यवस्था से ही दुनिया पागलखाना बन रही है, रुग्णता बढ़ रही है।' पर आश्चर्य है कि संसार में नियम-संम, विधि-विधान की अपेक्षा न तो अब सर्वत्र काम का बोलबाला है ही। नग्नचित्र, नंगी पुस्तकें, नंगी फिल्में सब काम की शिक्षा ही तो हैं। यदि कोई कमी है तो वह ज्ञान-विज्ञान की कमी है, विधि-निषेध और संयम की कमी है।

गन्दी खाद से सुगंधित फूल होते हैं, यह प्रत्यक्ष है। किन्तु अवैध काम से सदा अनर्थ ही हुए हैं। वैध काम का महत्त्व तो शास्त्रों को मान्य ही है। ज्ञान तो अधर्म और धर्म दोनों का उपयोगी है ही। तभी तो धर्म का संग्रह और अधर्म का त्याग बन सकेगा।

'कामुकता धर्मगुरुओं का आविष्कार है', यह कथन प्रमादमूलक है। काम के सम्बन्ध में विधि-विधान बतानेवाला भी धार्मिक ही है। काम की उच्छृङ्खलता का पोषण करनेवाले, विधि-विधान से भागनेवाले ही वस्तुतः कामुकता के स्रष्टा हैं।

कहा जाता है कि "शरीर के तल पर काम का अनुभव" जिन देशों में प्रेम बिना विवाह होता है, काम का सम्बन्ध शरीर तल पर ही रुक जाता है। विवाह दो देहों का होता है, दो आत्माओं का नहीं। पर दो आत्माओं का प्रेम हो सकता है। अगर प्रेम से विवाह निकलता है तो विवाह का गहरा अर्थ होता है। पण्डितों, ज्योतिषियों के हिसाब-किताब से होनेवाला विवाह कभी भी शरीर से ज्यादा गहरा नहीं होता। परन्तु वह स्थिर होता है; क्योंकि मन की अपेक्षा शरीर स्थिर होता है। इसीलिए ऐसा विवाह जीवनभर चल जाता है।

प्रेम मन पर होता है, मन चञ्चल होता है। जो समान प्रेम के आधार पर विवाह करते हैं, वहाँ तलाक अनिवार्य होता है, क्योंकि प्रेम तरल है। पत्थर स्थिर है, पर फूल जिन्दा है, वह खिलता है। सायंकाल मुरझा जाता है। पत्थर मुर्दा है, वह जैसा का तैसा रहेगा। समाज के हित में वैसा विवाह हितकर है, पर व्यक्ति के अहित में है। उसमें सेक्स की, काम की गहराई नहीं होती। प्रेम के बिना विवाह और वेश्या के पास जाने में बुनियादी भेद नहीं है। वेश्या को एक दिन के लिए खरीदा जाता है। पत्नी को जीवनभर के लिए खरीदा जाता है। जहाँ प्रेम नहीं; वहाँ खरीदना ही है। रोज-रोज के साथ रहने से एक सम्बन्ध हो जाता है, उसे हम प्रेम समझ लेते हैं, पर वह प्रेम नहीं।

दूसरा तल है काम का मन। मनोवैज्ञानिक वात्स्यायन आदि ने जो शास्त्र लिखे हैं, वे शरीर से गहरे नहीं जाते। अतएव प्रेम-विवाह का सेक्स मन तक जाता है। इसीलिए पश्चिम का समाज अस्त-व्यस्त हो गया, क्योंकि मन का कोई भरोसा नहीं। घड़ीभर में मन कुछ कहता है, घड़ी में

कुछ। 'बायरन' ने सत्तर स्त्रियों से सम्बन्धित होने के बाद शादी की और वह चर्च से उतर रहा था पत्नी का हाथ, हाथ में लेकर। अभी घण्टियाँ बज ही रही थी, मित्र विदा ही हो रहे थे कि चर्च के सामने एक और सुन्दरी दिखाई पड़ी। एक क्षण को वह भूल गया अपनी पत्नी को। सारा प्राण उस स्त्री का पीछा करने लगा। लेकिन वह ईमानदार था। वह पत्नी से कहने लगा : "कल तक मैं विचार करता था—तू मुझे मिलेगी या नहीं। मुझे तेरे सिवा कुछ दिखाई नहीं पड़ता था; पर तेरे मिल जाने पर एक सुन्दरी को देखते ही मेरा मन तुझे भूल गया। इसीलिए समाज की स्थिरता चाहनेवाले लोग कहते हैं कि 'निश्चय किया विवाह करो, प्रेम नहीं। विवाह से प्रेम आता हो तो आये, न आता हो तो न अये। परन्तु शरीर की अपेक्षा मन के तल पर काम का अनुभव गहरा होता है। पूरब की अपेक्षा पश्चिम में सेक्स का अनुभव ज्यादा गहरा है।'

"काम का तीसरा तल है आध्यात्मिक। आज तक उसका ज्ञान न पूरब को है, न पश्चिम को। आत्मा के तल पर कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वहाँ सब शान्त हैं, सब सनातन हैं, उस तल पर जो पति-पत्नी एक बार मिल जाते हैं या दो व्यक्ति एक बार मिल जाते हैं, उन्हें लगता है कि वे अनन्त जन्मों के लिए एक हो गये। उसमें फिर कोई परिवर्तन नहीं होता। इस दृष्टि से माँ और बेटे का जो प्रेम है, वह माध्यात्मिक काम है। पुरुष और स्त्री एक क्षण के लिये मिलते हैं। दोनों की आत्माएँ एक हो जाती हैं। उस घड़ी के आनन्द का अनुभव ही उनको बाँधनेवाला हो जाता है। माँ के पेट में बेटा नौ महीने माँ के अस्तित्व से मिला रहता है। पति क्षणभर को मिलता है। इसीलिए माँ का बेटे से जैसा गहरा सम्बन्ध होता है, वैसा पति से नहीं होता। पति क्षणभर मिलता और बिछुड़ता है; लेकिन बेटा माँ की साँस में साँस लेता है, वह माँ के हृदय से धड़कता है, माँ के खून से, माँ के प्राण से प्राणित होता है। वह माँ का एक हिस्सा होता है। इसीलिए स्त्री बिना माँ बने पूरी तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाती। उसके व्यक्तित्व का, सौन्दर्य का

निखार माँ बनने पर ही होता है। इसीलिए माँ बनते ही उसे सेक्स की रुचि कम हो जाती है। फिर सेक्स में उसे गहरे रस का अनुभव नहीं होता; क्योंकि अब उसने मातृत्व का गहरा रस चख लिया। एक प्राण के साथ इकट्ठा रहकर उसने जी लिया। अब उसे सेक्स में रस नहीं रह जाता। किन्तु पुरुषों में पिता बनने से कोई फरक नहीं पड़ता। जो माँ नहीं बनी और जो माँ बनी है, दोनों में महान् अन्तर होता है। माँ में एक दीप्ति, एक शान्ति दिखाई देगी। जो माँ नहीं बनी है, पहाड़ से दौड़नेवाली नदी जैसी होती है। पाश्चात्य स्त्रियाँ, जिन पर सेक्स का पागलपन सवार है, माँ बनना नहीं चाहतीं; क्योंकि माँ बनते ही सेक्स का रस चला जाता है।

"स्त्री माँ बनकर तृप्त होती है; क्योंकि वह आध्यात्मिक तल पर सेक्स का अनुभव कर लेती है। बच्चे में उसकी आत्मीयता होती है। माँ बच्चे के लिए प्राण दे सकती है, जबकि पत्नी पति के प्राण ले सकती है। अनेक बार ऐसा हुआ भी है, परन्तु बच्चे के सम्बन्ध में वह ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकती। जब स्त्री का पति के साथ गहरा सम्बन्ध हो जाता है, तब वह पति भी उसे बेटे के सामन दिखाई देता है। बहुत प्यार में पति का पत्नी के साथ वैसा व्यवहार होता है जैसा छोटे बच्चे का माँ के प्रति गहरे प्रेम से भरने पर। पति के हाथ स्तन की तरफ क्यों बढ़ते हैं? वे छोटे बच्चे के हाथ हैं, जो माँ के स्तन की ओर बढ़ते हैं। स्तन से सेक्स का क्या सम्बन्ध? स्तन से माँ-बेटे का ही सम्बन्ध होता है। पुरुष को बचपन से ही 'बेटे का स्तन से सम्बन्ध' ज्ञात है। अतः जब वह प्रेम से भरता है तो बेटा हो जाता है और उस समय स्त्री का हाथ पहुँच जाता है पुरुष के सिर पर उसे बालों में अँगुलियाँ चली जाती हैं। वह पुराने बेटे की याद है, जिसे उसने सहलाया है। यदि ठीक से प्रेम आध्यात्मिक तत्त्व पर विकसित हो जाय तो पति आखिर में बेटा हो जाता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध उसकी तैयारी है; यह यात्रा है, परन्तु उद्देश्य है माँ बनना, फिर पुरुष बेटा हो जायगा। अतएव माँ-बेटे का सम्बन्ध आध्यात्मिक काम का सम्बन्ध है। उसी सम्बन्ध से परितृप्ति

का अनुभव होगा। उसी अनुभव से ब्रह्मचर्य फलित होता है। वह आध्यात्मिक काम ही प्रेम है। सेक्स आध्यात्मिक होकर प्रेम बन जाता है।''

उपर्युक्त सभी बातें भारतीय शास्त्रों का तात्पर्य न जानने का ही परिणाम हैं। वस्तुत: काम शारीरिक एवं आध्यात्मिक न होकर मानसिक ही है। उसके अनेक नामों में मनोज, मनसिज आदि भी नाम हैं। श्रुति के अनुसार भी काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, भय—ये सब मन एवं मन के धर्म ही हैं। शरीर से मन का सम्बन्ध होता है अत: सोपाधिक आत्मा पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। विवाह न केवल देहों का होता है और न दो आत्माओं का ही। विवाह तो आत्माधिष्ठित शरीर या शरीरविशिष्ट आत्मा का होता है। इसीलिए विवाह का लोक-परलोक दोनों से ही सम्बन्ध होता है। लौकिक सुख और पारलौकिक सुख भी विवाह का उद्देश्य है। वेदों की दृष्टि से तो शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से ही विवाह होता है। जब जीवात्मा को स्वर्ग; ब्रह्मलोक, मोक्षादि पुरुषार्थ के लिए कर्म की आवश्यकता होती है, तभी पत्नी की अपेक्षा होती है; क्योंकि पत्नी के बिना कर्म हो ही नहीं सकता। दम्पती का साथ ही साथ कर्मों में अधिकार है। शास्त्रों के अनुसार वैदिक-कर्मों मे कुमार या विधुर पुरुष का अधिकार नहीं होता। इसी प्रकार अविवाहित पत्नी का भी कर्माधिकार नहीं होता। इतना ही क्यों, 'बृहदारण्य-उपनिषद्' में कहा है कि पत्नी और पति दोनों एक ही वस्तु है, वे भावनावशात् एक के दो हो गये हैं। एक विराट् ही, अकेले में रमण न होने के कारण, मनु और शतरूपा के रूप में प्रकट हुआ। वही पाणियों के कर्मानुरूप अनेक जोड़ों के रूप में प्रकट हुआ है : **'स एकांकी न रेमे, स द्वितीयमैच्छत्।''** शरीर और आत्मा के रहने पर भी मन के बिना मनोज कभी हो ही नहीं सकता। अत: कोई भी काम न केवल शरीर के धरातल पर हो सकता है और न आत्मा के धरातल पर। मानसी भावना और सङ्कल्प के बिना कहीं भी काम का आविर्भाव हो ही नहीं सकता :

''काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे।''

यह अलग बात है कि काम भावप्रवण व्यक्तियों में मानसिक धरातल पर अधिक व्यक्त हो जाता है, अन्य लोगों में वैसा नहीं होता। हाव, भाव, स्मित, कटाक्षादि शारीर व्यापार भी मनोमूलक ही होते हैं। इसीलिए तो आकृतियों से ही काम, क्रोध, भय, लज्जादि का ज्ञान होता है। जिन पाश्चात्य विवाहों को 'प्रेम-विवाह' कहा जाता है, वास्तव में वहाँ भी प्रेम कहाँ है? क्या इतनी चञ्चल वासनाओं को 'प्रेम-संज्ञा' दी जा सकती है? तृष्णा, वासना ही क्षण-क्षण में बदलने वाली होती है। प्रातः अन्य, मध्याह्न अन्य, कल अन्य—इस प्रकार प्रेम में परिवर्तन नहीं होता। अतः वेश्या का उदाहरण पाश्चात्य विवाहों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। वैध, शास्त्रीय विवाहों के लिए वह उदाहरण उपयुक्त नहीं। वेश्या जितना कृत्रिम प्रेम करना जानती है, उतना पाश्चात्य महिला भी नहीं कर सकती। वेश्या में धन-कामना प्रधान होती है तो उधर प्रेम-विवाहों में भी शरीर, धन आदि की कामना की कमी नहीं।

वैध विवाहों में तो आत्मा, परमात्मा और शास्त्रों का सम्बन्ध होता है, इसीलिए उनमें स्थिरता होती है। जिस प्रकार ईश्वर में प्राथमिक वैध प्रेम ही होता है, पश्चात् वही प्रेम 'रागानुगा भक्ति' का रूप धारण कर लेता है। बालक के लिए मातृभक्ति, पितृभक्ति और आचार्यभक्ति का विधान है :

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।"

(तै० उ० १/११/२)

इसी प्रकार अल्पवय में ही बालिका के लिए भी प्रति-प्रेम का विधान किया जाता है। आगे अवस्थानुरूप वह प्रेम वैध भक्ति या राग का रूप धारण कर लता है। अनङ्गप्रवेश से पहले ही जिससे सम्बन्ध हो जाता है, अनङ्गावेश-दशा में वही प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए उनमें अनन्यता भी रहती है। अनङ्गावेश-दशा में भी उनका मन प्रथम से निश्चित पति में ही जाता है। इधर-उधर उनका मन नहीं भटकता। किन्तु जिनका कोई सम्बन्ध निश्चित नहीं, उनका काम से आविष्ट मन अनेक पुरुषों में

भटकता है और वह अन्त तक कहीं भी स्थिर नहीं हो पाता। यही स्थिति पुरुषों की है, उनका प्रेम बाल्यावस्था से ही माता-पिता तथा गुरु की भक्ति में संलग्न होता है। वेदादिशास्त्रों के अध्ययन, वेदार्थ-विचार में संलग्न रहता है। समावर्तन के अनन्तर वैध विवाहिता पत्नी का सम्पर्क होता है। कामोदय होने पर निश्चित पत्नी में ही मन संलग्न हो जाता है। इसीलिए रस-शास्त्रकारों ने भी परोढ़ा स्त्री को शृङ्गार रस में अग्राह्य बतलाया है।

वास्तव में जिसे 'प्रेम' कहा जाता है, वह अवस्थानुसार स्वयं व्यक्त होता है। जैसे क्षुधा के बिना उत्तमोत्तम भोजन में भी आकर्षण और स्वाद प्रतीत नहीं होता, क्षुधा होने पर सामान्य रोटी या भात में भी स्वाद प्रतीत होता है। वैसे ही अवस्था के अनुसार काम या उद्रेक होने पर सामान्य स्त्री-पुरुष में भी लोकोत्तर रसानुभूति होती है। कामोद्रेक के बिना परम सुन्दरी, परम यौवनवती, दिव्य हाव-भाववाली स्त्री भी निरर्थक प्रतीत होती है। आकर्षक भाव भी यौवनावस्था और काम के उद्रेक से स्वयं प्रकट होते हैं। कृत्रिम भाव तो वेश्याएँ एवं प्रेम-विवाहवाली भी व्यक्त कर लेती हैं और वे आकर्षण करने में सफल भी हो जाती हैं। कभी-कभी तो कृत्रिमता स्वाभाविकता से अधिक चमकदार प्रतीत होती है, किन्तु अन्त में उसका भेद खुल जाने पर वह निःसार ठहरती है।

वैध विवाह में ही अरुन्धती, लोपामुद्रा, अनसूया, सीता, सावित्री आदि दिव्य देवियों का आविर्भाव हो सकता है। दमयन्ती एवं रुक्मिणी का प्रेम-विवाह भी इसी वैध विवाह में परिणत होकर लोक तथा परलोक में कल्याणकारी हुआ। फिर, वह प्रेम-विवाहों जैसा नहीं था; क्योंकि उसमें एकनिष्ठता थी। पार्वती का शिव में प्रेम एकनिष्ठ था। सीता का राम में, राधा और रुक्मिणी का कृष्ण में प्रेम एकनिष्ठ ही था, भटकनेवाला नहीं था। ''ये नहीं तो और सही'—वाली प्रीति उनकी नहीं थी। दमयन्ती का नल में एकनिष्ठ प्रेम ही था। व्रज कन्याओं का कृष्ण में प्रेम था, पर एकनिष्ठ था। उसी को प्रेम-विवाह कहा जा सकता है। भले ही मन कर भरोसा न हो,

परन्तु ऐसे प्रेम पर भरोसा किया जा सकता है। ये प्रेम केवल चञ्चल मन पर निर्भर नहीं होता, बल्कि चञ्चल मन का नियंत्रण करता है। तांत्रिकों, साहित्यिकों, रसशास्त्रियों एवं कृष्णभक्तों ने, जयदेव, सूर, हितहरिवंश आदि ने एवं वात्स्यायन आदि ने लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के हेतु भूत उस वैध प्रेम, वैध काम तथा लोकातीत प्रेम का वर्णन किया है। उनके वर्णयिता ऋषि-महर्षि तथा बाल-ब्रह्मचारी थे। वात्स्यायन स्वयं बाल ब्रह्मचारी था। वात्स्यायन का वर्णन परम मनोवैज्ञानिक है।

पति और पत्नी दोनों की मनोदशाओं का विश्लेषण, मनोऽनुसरण केवल शारीरिक नहीं हो सकता। आध्यात्मिक कामतत्त्व का वर्णन सर्वथा निःसार ही है। दो व्यक्ति एक बार मिल जाते हैं तो उन्हें लगता है वे अनन्त जन्मों के लिए एक हो गये, यह केवल भावनामात्र भी हो सकती है। उसका स्पष्ट उदाहरण पूर्वोक्त कामेश्वरी-कामेश्वर, सीता-राम, राधा-कृष्ण, दयमन्ती-नल आदि में भी मिलेगा; पर उनका शास्त्रीय विवाहों में ही अन्तर्भाव है। वह कोई तीसरा तल नहीं। माँ और बेटे में आध्यात्मिक काम ढूँढ़ना शुद्ध अनभिज्ञता ही है। अतएव उस सम्बन्ध में स्पष्टतः काम या शुक्र या रज का कोई भी विकार परिलक्षित नहीं होता। आचार्यों का तो अनुभव है कि अत्यन्त कामुक की भी कामवृत्ति माता के सामने कुण्ठित हो जाती है :

"अत्यन्ताकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।"

पुत्र में प्रेम का हेतु कामसम्बन्ध नहीं है, किन्तु आत्मसम्बन्ध है। पीछे कहा जा चुका है कि मुख्य निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम आत्मा में ही होता है और सब प्रेम आत्मार्थ ही होते हैं। आत्मसम्बन्धी होने तथा आत्मा का भोगायतन होने के कारण शरीर से प्रेम होता है। शरीर से घनिष्ठ सम्बन्ध और अभीष्ट पति-प्रेमजनित शुक्र-परिणाम होने के कारण पुत्र में प्रेम अधिक होता है। उसमें काम की गन्ध की प्रतीति 'फ्रायड' वादियों को ही हो सकती है, अन्य को नहीं। पति और पत्नी मिलते हैं, कामोद्रेक में, सिर्फ वैसी प्रतीतिमात्र होती है। भले ही बेटा माँ के प्राण से प्राण, खून से खून, श्वास

से श्वासवाला हो; तो भी वह सम्बन्ध न काम-मूलक है और न कामसुख का जनक ही है। मिलने-मिलने में आकाश पाताल का अन्तर होता है। भाई-बहन भी मिलते हैं, पिता-पुत्री भी मिलते हैं, स्नेह से और प्रेम से मिलते हैं। पति-पत्नी भी मिलते हैं, स्नेह और प्रेम से मिलते हैं। लेकिन क्या उनका मिलना एक जैसा है? क्या उनके भाव और विकार समान ही होते हैं? पुत्र भी माता का स्तन-स्पर्श करता है और पति भी पत्नी का स्तन-स्पर्श करता है तो क्या दोनों अनुभवों को एक मानना स्वानुभवविरुद्ध नहीं है? शास्त्रविरुद्ध तो है ही।

इतना ही क्यों, पुत्री भी तो माँ से नौ महीने मिली रहती है। तो क्या वहाँ भी आध्यात्मिक काम ही है? स्त्री-स्त्री भी मिलती हैं, पुरुष पुरुष भी मिलते हैं पर वहाँ समान अनुभूति क्यों नहीं होती? साथ ही वह पुत्र या पुत्री माता के गर्भ में बाद में आते हैं पहले तो पिता के गर्भ में ही रहते हैं। माता का गर्भ तो विशेषतया उदर से ही सम्बद्ध होता है, जब कि पिता में रहने वाला गर्भ पिता के अङ्ग-अङ्ग से सम्बद्ध रहता है। फिर वहाँ भी वैसी अनुभूति क्यों नहीं, क्या इसका कोई समाधान है?

यह भी कहना गलत है कि "कोई भी पति स्त्री को वैसा तृप्त नहीं कर सकता, जैसा कि उसका बेटा उसे कर देता है।" क्योंकि सभी तृप्तियाँ एक-सी नहीं होतीं। भोजन से भी तृप्ति होती है, पर वह कामतृप्ति नहीं। वैसे ही पुत्र प्राप्ति स्वयं में एक तृप्ति है, पर वह कामतृप्ति नहीं। कामतृप्ति मात्र पति से ही होती है। भले ही कई पति पत्नियों को तृप्त न कर पाते हों; पर बहुत से ऐसे भी पति हैं; जो पत्नी को तृप्त कर स्वयं भी तृप्त होते हैं। यह अलग बात है कि काम से पूर्ण तृप्ति कभी किसी पति या पत्नी को नहीं होती। जैसे घृताहुति से अग्नि नहीं बुझती, वैसे ही कामसुख के भोग से काम तृप्त नहीं होता।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।"

(मनु २/९४)

पुत्र पत्नी का फल है। जैसे फल के बिना लता की शोभ नहीं, वैसे ही पुत्र के बिना पत्नी की शोभा नहीं। यही पुत्र से पत्नी की शोभा-सौन्दर्य के निखार का आशय है। यह नहीं कि पुत्र से उसकी कामवासना पूर्ण होती है। हाँ, पुत्र के प्रेम में ममता और वात्सल्यवश उसके पालन-पोषण में व्यस्त होने के कारण उसके लिए कामसुख गौण हो जाता है। जैसे स्नेह-मोहवृत्ति से लोभवृत्ति निवृत्त हो जाती है, क्रोध-वृत्ति से कामवृत्ति बाधित हो जाती है, वैसे ही वात्सल्य ममत्व के उद्रेक से भी कामवृत्ति बाधित हो जाती है। लेकिन इससे काम-तृप्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। सेक्स में कम रुचि होने का आशय भी यही है। वैसे भी अन्यमनस्कता में कामरस फीका ही रहता है; पर इसका हेतु अन्यमनस्कता है, तृप्ति नहीं। जिनमें अन्यमनस्कता नहीं है, उनका काम ज्यों-का-त्यों बना ही रहता है। वैसे ही सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् शारीरिक स्थिति और यौवन भी प्राग्वत् नहीं रहता। अतएव तब उतना आकर्षण भी नहीं रहता। इसीलिए कई स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति से विमुख रहती हैं। पुरुषों की शारीरिक स्थिति उस ढङ्ग की नहीं होती।

शरीर-निर्माण में पिता के शुक्र और माता के रज का योग रहता है। अस्थि, मज्जादि धातुएँ शुक्र के परिणाम हैं तो रुधिर, मांसादि माता के रज के परिणाम। मातृत्व की गम्भीरता में भी मातृत्व ही मूल है, कामतृप्ति नहीं। यों तो पत्नी-दशा में ही वह भोजनादि कराने के समय कभी मातृबुद्धिवाली, कभी भगिनीबुद्धिवाली तथा कभी सखी-बुद्धिवाली होती है।

उत्कृष्ट आध्यात्मिक तल पर बिना पहुँचे भी तो सन्तानें उत्पन्न होती ही हैं। खूब झगड़नेवाली, विपरीत रहनेवाली पत्नी में भी सन्तानें उत्पन्न होती ही हैं। अत: वात्सल्य-प्रेम को 'आध्यात्मिक काम' कहना और उससे कामतृप्ति की बातें करना निरा मतिभ्रम है। लोगों के ऐसे अनेक अनुभव हैं; पाश्चात्य देशों में भी ऐसे उदाहरण हैं जहाँ अनेक सन्तानों के पश्चात् भी स्त्रियाँ नया विवाह करती हैं और कामतृप्ति की अपेक्षा रखती हैं।

वैध काम 'राम' की प्राप्ति का साधन हो सकता है, पर अवैध काम

तो सदैव राम के मार्ग में बाधक ही रहा है और रहेगा। प्रसिद्ध ही है

"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुं कि रह सकें, रवि रजनी इक ठाम।।"

उपनिषद् भी कहती है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।"

(कठ० उ० २/६/१४)

अर्थात् जब प्राणी के हृदय में रहने वाली कामग्रंथियाँ खुल जाती हैं तो मत्सर्य अमृत हो जाता है और जीवनकाल में ही अमृत्व का अनुभव करने लगता है।

राम की यात्रा करनेवाले को काम या सेक्स की आवश्यकता नहीं। रामयात्रा की योग्यता न हो तो वैधकाम का आश्रयण कर योग्यता लाने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथासिद्ध हेतु कभी कारण नहीं बनता। भले ही कुलाल का पिता घट के कारण का भी कारण हो, पर वह घट का कारण नहीं माना जाता। भले ही वैध काम विवेक, वैराग्य और सन्तोष का कारण हो, धर्मानुष्ठान द्वारा बुद्धिशुद्धि का भी हेतु हो, पर वह राम-प्राप्ति के प्रति अन्यथासिद्ध ही रहेगा। इतना ही क्यों, सामान्यता सभी प्राणी पाशविक काम-कर्मज्ञान में ही आसक्त रहते हैं, जन्मान्तरीय सुकृतवशात् जो ऐसे कुल में जन्म ग्रहण करते हैं जहाँ पिता, माता तथा सभी कुटुम्बी संस्कार-सम्पन्न हों, जहाँ गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्मादि सभी संस्कार सम्पन्न हों, जहाँ आरम्भ से ही बालक शास्त्रीय कर्मों में ही प्रवृत्त होते हों, उन्हें भी पाशविक काम-कर्मज्ञान प्राप्त होते हैं। उनमें से जो अपनी विचार-शक्ति, इच्छा या माता-पिता की प्रेरणा से वैदिक काम-कर्मज्ञान में प्रवृत्त होता है, वही परमार्थपथ का पथिक बनता है।

अपरिगणित प्राणी पाशविक काम-कर्मज्ञान में ही पैदा होते और उन्हीं में मर भी जाते हैं। अतः स्वाभाविक अविद्या, काम-कर्मज्ञान से परमार्थ-यात्रा

होती ही नहीं। जिस कारण वह यात्रा शुरू होती है, वही यात्रारम्भस्थली है और वह है परमार्थ-पंथ। प्रवृत्ति की स्वत: इच्छा या प्रवर्तकेच्छा उसके पूर्व की स्थिति अन्यथा सिद्ध-कोटि में ही है। राम की ओर प्रवृत्ति के लिए काम और काम्य की विस्मृति अनिवार्य ही है। विस्मृति के लिए ही कभी वैधकाम का भी आश्रयण करना पड़ सकता है। विधि-निषेध से भागने वाले कामोपासक, काम-परायण कितने भी ज्ञान-विज्ञान की बातें करते रहें, वे सदैव काम के गुलाम ही बने रहेंगे।

तन्त्रों की दृष्टि भी विधि-निषेधशून्य नहीं है। उनमें भी ग्राह्य-अग्राह्य की एक सीमा है। उसके पहले भी उन्हें कई साधनाएँ करनी पड़ती हैं। तन्त्र ही क्यों, बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य की पञ्चाग्नि-विद्या में भी कामसम्बन्धिनी उपासनाएँ हैं। छान्दोग्य की 'वामदेव्योपासना' भी काम सम्बन्धी उपासना है। लेकिन वहाँ भी विधि है और निषेध है। विधि तथा निषेध से भागनेवाले का वहाँ भी प्रवेश नहीं।

तांत्रिकों को भी स्त्री में शक्ति की भानवा या योनि में त्रिकोणी प्रकृति की भावना मान्य है। सम्भोग में कुण्डलिनी-अनुसंधानविशिष्ट जप-ध्यान आदि द्वारा तत्त्वनिष्ठता के प्रभाव से काम की गौणता निष्पन्न होती है।

उत्तेजक विकारों एवं विविध दर्शन-स्पर्शनादि में भी दृष्टयन्तर-विधि का भी पर्यवसान उत्तेजनोपशांति में ही होता है। खजुराहो एवं कोणार्क के नग्न मैथुन-चित्रों अन्य चित्रों या अन्य दर्शन-श्रवणों में भी तात्कालिक ही उत्तेजनाएँ होती हैं। पुनरावृत्तियों में सर्वत्र प्रभावहीनता ही प्रतिफलित होती है। किन्तु क्षणिक, तात्कालिक उत्तेजनाओं से भी हानि और लाभ होते ही हैं। तभी तो शास्त्रों ने भी अनेक प्रकार के दर्शन, श्रवणादि निषिद्ध ठहराये हैं।

संख्यान परायणों पर भी दर्शन, श्रवण, स्पर्शनादि का हठात् प्रभाव पड़ता है। शरीर को अस्थि मांस-चर्ममय और मूत्र-पुरीष-भाण्डागार समझनेवाला विवेकी भी विधि-निषेध-निरपेक्ष हो युवती स्त्री का यथेष्ट दर्शन-स्पर्शन करेगा, तो कामवासना का शिकार होकर रहेगा।

जो लोग नियम एवं प्रार्थनापूर्वक मालिक के चित्र पर जूता लगाने से मालिक के प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाने में विश्वास करते है, उनकी बुद्धि की बलिहारी है। इतने अन्धविश्वासी लोग जब शास्त्रोक्त नियमों पर टीका-टिप्पणी करने लगते हैं, तो महान आश्चर्य होता है।

वस्तुत: आयुर्वेद एवं एलोपैथी के अनुसार अनेक रोग भावनामय होते है, जिनके विभिन्न उपचार बताये गये हैं। वैध काम, नियन्त्रित काम भगवान् की विभूति है। उसी नियन्त्रित काम से वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि जैसे दिव्य पुरुषों के आविर्भाव होते हैं।

काम का कर्म एवं उपासनाओं से सम्बद्ध होना ही आध्यात्मिक काम है। जैसा कि कहा जा चुका है, **''सोऽकामयत''** (बृ० उ० १/४/१७) इस श्रुति के अनुसार परमेश्वर ही विश्व-सिसृक्षा ही मूल काम है। वही आधिदैविक काम है। उसी काम से प्रेरित ईश्वर परमप्रकृतिरूपा योनि में स्व-प्रतिबिम्बिरूप गर्भ का आधान करते हैं। उसी से विश्वप्रपञ्च की सृष्टि होती है :

''मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।''

(गीता १४/३)

सभी स्त्री-पुरुषों के काम आध्यात्मिक होते हैं। ईश्वर का काम आधिदैविक काम होता है। दोनों ही साभासवृत्ति हैं। अन्तःकरण की वृत्ति आध्यात्मिक काम है, तो मायावृत्ति आधिदैविक काम। अभीष्ट प्राप्ति के अनन्तर वृत्ति सात्त्विक और अन्तर्मुख होती है। उस पर अभिव्यक्त आत्मचैतन्य ही आनन्दरूप होता है। इसीलिए आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों ही काम परमानन्दरूप हैं। प्रतिबिम्ब का जो भी चमत्कार है, वह बिम्ब का ही चमत्कार होता है। अत: आत्मचैतन्य ही कामानन्द का मूल है। इसीलिए आध्यात्मिक काम का मूल आधिदैविक काम है। अत: वह कारण-ब्रह्मरूप ही है। कारण-ब्रह्म का भी मूल कार्य-कारणातीत शुद्ध ब्रह्म ही है।

जैसे अग्नि-तादात्म्यापत्र लौहपिण्ड में अनित्य दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व प्रदान करनेवाला नित्य दाहकत्ववान् और प्रकाशकत्ववान् अग्नि है, वैसे ही आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों प्रकार के कामों में सातिशय मोहकत्व और आनन्दप्रदत्व देनेवाला निरतिशय मोहकत्ववान् और आनन्दप्रदत्ववान् शुद्ध आत्मा ही है। इसी दृष्टि से कृष्ण ब्रह्म को 'साक्षातन्मथमन्मथ:' कहा गया है। जहाँ आध्यात्मिक कामाभिव्यक्ति मूल को रसोत्कण्ठ, स्वस्थ, यौवनसम्पन्न स्त्री पुरुष, वहीं आधिदैविक कामाभिव्यक्ति के मूल हैं समष्टि प्राणियों के अदृष्टवशात् सोत्कण्ठ, प्रकृति-परमेश्वर। निरुपाधिक ब्रह्म ही सोपाधिक ब्रह्म का याथात्म्य है। अत: आधिदैविक काम का याथात्म्य है— पारमार्थिक ब्रह्म।

सम्पूर्ण सृष्टि के बीज हैं प्रकृति एवं पुरुष, शक्ति और शिव। प्रकृति की अभिव्यञ्जना त्रिकोणा योनि में होती है, तो पुरुष शिव की व्यञ्जना बिन्दु में। चेतनाचेतनात्मक विश्व सृष्टि में वही बीजरूप में विद्यमान है। सृष्टि में साधक-बाधक दोनों ही भाव होते हैं। निर्माण और निर्वाण दोनों के परिणाम हैं। विधि और निषेध का समुचित उपयोग करने पर निर्माण और निर्वाण दोनों ही अभीष्ट होते हैं।

साधन के व्यक्तिक्रम का परिणाम फल में भी व्यतिक्रान्ति लाता है। इसी दृष्टि से गीता ने शास्त्रविधि के पालन पर विशेष बल दिया है। जो शास्त्रविधि का उल्लङ्घन कर यथेष्ट चेष्टा को प्रश्रय देता है, उसे सुख, सिद्धि, शान्ति एवं सद्गति कुछ भी नहीं मिलती। अत: शास्त्र-विधानोक्त कर्मों को मानकर तदनुकुल चेष्टा ही सर्वकल्याण का मूल है। तब काम, मोक्ष सब कुछ सुलभ हो जाते हैं।

□□

तृतीय प्रकरण

इतर सुखों के समान ही कामसुख भी है। भेद केवल आधिक्य और अनाधिक्य का ही है। अभीष्ट व्यक्ति के मिलने में भी मन की एकाग्रता पूर्वोक्त न्याय से ही होती है। भरत और राम के मिलन में उद्रिक्त प्रेम में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का विलोप हो चुका था :

परम प्रेमपूरण दोउ भाई।
मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई।।

(रा० मा० २/२३९/१)

साधारणतया सुख का ज्ञान भी प्रमाता को ही होता है। सुख भी प्रमेय-कोटि में ही आता है। जहाँ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय नहीं होते, वह अप्रमेय सुख ब्रह्म ही है। सम्भोग-जनित सुख अप्रमेय नहीं है। इतर सुखों के समान वह भी प्रमेय ही है। आनन्द के उद्रेक या आधिक्य से मन उसमें निलीन-सा प्रतीत होता है। अतएव भार्या-परिष्वङ्ग-सुख एवं सौषुप्त सुख दोनों ही ब्रह्म से भिन्न ही हैं। इसीलिए उपनिषद् ने मैथुन या मैथुन-सुख को ब्रह्म न कह कर उसके प्रकाशक ज्ञाता को ही ब्रह्म कहा है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति।।

(कठ उ० २/४३

अतः 'मैथुन-काल में अहंकार का लय होता है, काल का भान नहीं होता' यह कहना अत्यन्त असङ्गत और अप्रामाणिक है। 'मैथुनसुखमनुभवामि' इस प्रकार के अनुव्यवसाय में निश्चय ही काल का भान रहता है। जैसे निरावरण ब्रह्मानुभूति सौषुप्त-सुखानुभूति से भिन्न है, वैसे ही वह मैथुन-सुखानुभूति से भी भिन्न है। जैसे वृत्तिविशिष्ट ज्ञान से ब्रह्मात्मक ज्ञान पृथक् है, वैसे ही लौकिक मैथुनादि-सुखों से ब्रह्मसुख सर्वदा भिन्न है।

कहा जाता है कि "परिपूर्ण हृदय से काम की स्वीकृति होने पर काम से मुक्ति होगी। जितनी अस्वीकृति होगी, उतने कपड़ेवाले फकीर की तरह बँधते चले जायँगे। परिपूर्ण काम की वह स्वीकृति ही आस्तिकता है, वही मुक्ति का साधन है। निसर्ग को अस्वीकार करना ही नास्तिकता है। जीवन जैसा है, उसे स्वीकार करो और जियो उसकी पूर्णता में। वही परिपूर्णता रोज-रोज सीढ़ियों-सीढ़ियों ऊपर उठती ही जाती है। वही स्वीकृति मनुष्य को ऊपर ले जाती है और एक दिन उसके दर्शन होते हैं, जिसका काम में पता नहीं चलता था। यही कामरूप कोयले से प्रेमरूप हीरे का जन्म है।"

किन्तु यह सब मतिभ्रम है। काम में जिसका पता भी नहीं, उसी वस्तु की प्राप्ति कामसेवन से कैसे हो सकेगी? काम की परिपूर्ण हृदय से स्वीकृतिवालों की कभी भी कमी नहीं रही। ऐल पुरूरवा ने उर्वशी के काम को पूर्णहृदय से स्वीकार किया था। दुष्यन्त, ययाति आदि ने भी अनन्त वैभवों के साथ पूर्णहृदय से काम को स्वीकृत किया। इन्द्रादि देवता विविध वैभवों के साथ अमृतपान करते हुए नन्दनवन, कामधेनु, चिन्तामणि की उपस्थिति में रम्भा, उर्वशी, इन्द्राणी प्रभृति ललनाओं के काम में परिपूर्ण हृदय से ही प्रवृत्त होते हैं। दरिद्र मर्त्यलोक में तो वह वैभव वह सामग्री, वह सौन्दर्य सम्भव ही नहीं। वैसी सम्भोग-सामर्थ्य भी आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु कउन बड़े-बड़े अनुभवियों को भी कहना पड़ा कि—जैसे घृत की आहुति से अग्नि का निर्वाण सम्भव नहीं, वैसे ही कामसम्भोग से तृप्ति सम्भव नहीं, बल्कि उससे कामाग्नि और बढ़ती है।

निषेध एवं दुर्लभता प्रेमवृद्धि का हेतु है, ऐसा साहित्यिकों का मत है। निषेध एवं दुर्लभता की अभिव्यक्ति के लिए ही कृष्णभक्ति में परकीयावाद का सन्निदेश किया गया। अतः 'निषेधों से पूर्ण काम-स्वीकृति में बाधा पड़ती है', यह कहना भी अकिञ्चित्कर ही है। एकाएक बहुत घी डालने पर अग्नि बुझ सकती है, वैसे ही अत्यधिक भोग से भोग की कामना की निवृत्ति भी तात्कालिक ही होती है। वैसे अनशन तथा अन्यान्य निरोधों से भी कामनिवृत्ति होती है, पर वह स्थिर नहीं होती :

''विषया विनिवर्तन्ते निरहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।''
क्षुधितस्येतरे यथा । (गीता २/५९)

यह अवश्य है कि अत्यन्त रोगी को निरोध से तत्काल लाभ सम्भव नहीं । उसी केलिए कपड़ेवाले फकीर के समान निषेध से अधिकाधिक बंधने की सम्भावना रहती है । अतएव ऐसे साधकों के लिए कामसेवन का ही विधान है, उसका निषेध नहीं :

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् संरक्तश्चेद् गृहे वसेत् ।

एक महात्मा एक दिन हलवाई के यहाँ पायस देखकर पायस खाने की तृष्णा से पीड़ित हुए । उन्होंने अपने मन को बहुत समझाया । मन नहीं मानता था । बार-बार उधर से आते और जाते थे । मन शान्त नहीं होता था । तब उन्होंने जाकर हलवाई से अपनी हालत बतलायी और उससे पायस प्राप्त किया । फिर वे उसे खाने लगे । खाते-खाते वमन होने लगा, फिर भी खाते गये । फलतः उससे घृणा हो गयी और सब छोड़कर चले गये ।

इसी तरह विषयों के अतिसेवन से विषय-वैतृष्ण्य होता है । आमतौर पर किसी भी वस्तु के अभाव में ही कामना बढ़ती है । विषय-बाहुल्य में कामनाएँ नहीं जैसी हो जाती हैं । इसीलिए अन्य उपायों के समान ही परिपूर्ण रूप से विषय का सेवन भी सन्तोष और वितृष्णा का एक हेतु माना जाता है । फिर भी वह वितृष्णा का स्थायी रूप नहीं । अनेक बार पदार्थ-बाहुल्य से वितृष्णता हो जाने पर भी कालान्तर में पुनः अभाव उपस्थित होने पर तृष्णा उत्पन्न होती है । केवल भोग-बाहुल्य से वितृष्णता होने पर साधनानुष्ठान करना पड़ेगा । वह अस्थायी वितृष्णता अनशन से भी सम्भव है, पर पूर्ण तृष्णानिवृत्ति तो परमात्म-दर्शन होने पर ही सम्भव है :

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। (गीता २/५९)

कहा जाता है कि 'मैं' एक बड़ी दीवार हूँ—मैं हूँ, मैं स्वर्ग जाऊँगा, मोक्ष प्राप्त करूँगा ।' जिसका 'मैं' जितना मजबूत है, उस आदमी की दूसरे

से युक्त होने की सामर्थ्य उतनी ही कम हो जाती है। 'मैं' और 'तुम' के भेद से शरीर पास होने पर भी आदमी दूर-दूर पड़े रहते हैं। जब तक दुनियाँ में मैं-मैं रहेगा, तब तक यहाँ की हर चीज दूसरी, अन्य रहेगी। जब तक भिन्नता है, तब तक प्रेम का अनुभव नहीं होता। प्रेम एकात्मकता की अनुभूति है। दीवाल गिर जाने का अनुभव ही प्रेम है। प्रेम में ऊर्जाएँ मिलकर संयुक्त हो जाती है। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति की सारी दीवालें गिर गयीं और प्राण संयुक्त हुए, मिले और एक हो गये—जब यह अनुभव एक व्यक्ति और समूह के बीच प्रतिफलित होता है, तो वही परमात्मा है। जब दो व्यक्तियों के बीच फलित होता है, तो वही प्रेम है। अगर मेरे और किसी दूसरे व्यक्ति के बीच यह अनुभव फलित हो जाय, हमारी दीवालें गिर जायँ, हम किसी भीतर के तल पर एक हो जायँ—एक सङ्गीत, एक धारा और एक प्राण, तो यही अनुभव है प्रेम। ऐसे ही अनुभव मेरे और समस्त के बीच घटित हो जाय कि 'मैं विलीन हो जाऊँ, सब और मैं एक हो जाऊँ' तो यह अनुभव परमात्मा है। इसलिए प्रेम है सीढ़ी और परमात्मा है उस यात्रा की अन्तिम मंजिल, यह कैसे हो सकता है? जब तक मैं नहीं मिटूँ, तब तक दूसरा कैसे मिट सकता है?''

यह भी कहा जाता है कि ''जो अहंकार की दीवाल है, विचार करने पर वह कुछ भी नहीं है। हाथ, पैर, मस्तिष्क, हृदय जितना गहरा खोजा जायगा, अन्त में शून्य ही मिलेगा। मैं या 'आई', 'इगो' कोई चीज है ही नहीं। 'स्व' वहाँ नहीं है जहाँ स्वयं का स्वत्व है। भिक्षु नागसेन का यह कहना कि घोड़ा, डण्डा, चाक एक-एक रथ नहीं हैं। अन्त में रथ हृदय में ही पर्यवसित होता है। एक-एक अंग समाप्त हो जाने पर शून्य रह जाता है। उससे जन्म होता है प्रेम का; क्योंकि वह शून्य आप नहीं हैं, वह शून्य परमात्मा है। एक शून्य में दूसरा शून्य मिल सकता है, पर दो व्यक्ति नहीं मिल सकते। शून्य की कोई दीवाल नहीं। तभी प्रेम की गङ्गा बहती है, जो छिपी है। कुआँ बनाने में कुछ लाना नहीं पड़ता, केवल मिट्टी, पत्थर आदि

हटाना ही पड़ता है। जब तक मिट्टी-पत्थर भरा है कुआँ नहीं बनेगा, प्रेम का झरना नहीं खुलेगा। अहंकार लेने की भाषा बोलता है, जबकि प्रेम देने की भाषा। वृक्ष ने बच्चों से प्रेम किया। उसे सर्वस्व प्रदान में ही सुख था, मिटा देने में ही सुख था।''

किन्तु यह सारा कथन अविचारित-रमणीय एवं तथ्यशून्य है। माना कि आज तक के प्रमाण वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि साधु सन्त एवं उनके अनुभव आपको मान्य नहीं। फिर भी आपकी दृष्टि से ही देखें, तो भी कोई वस्तु शून्य पर्यवसायी नहीं। **'न ह्यमूलं प्ररोहति'** बिना बीज के कोई अंकुर नहीं होता। समुदाय ही अवयवी है। यद्यपि नैयायिक एवं वैशेषिकों के अनुसार तो अवयवी अवयव से पृथक् भी मान्य है, किन्तु व्यवहार अवयवी से ही होता है। मृत्तिका या परमाणुओं से जलानयन का कार्य नहीं होता। तन्तुओं से अङ्ग-प्रावरण तथा शीतापनयन नहीं होता। वह सब कार्य घट-पट से ही होता है। थोड़ी देर के लिए वैसा भी मान लें, तो भी अन्त में परमाणु ही शेष रहते हैं और वे नित्य माने जाते हैं। यदि परमाणु कल्पनामात्र है, तो भी कल्पना का आधार अधिष्ठान कोई न कोई होता ही है। बिना अधिष्ठान के कोई कल्पना नहीं होती। रज्जु-सर्प का अधिष्ठान रज्जु सत् ही है। शुक्ति-रजत का अधिष्ठान सत्य शुक्ति ही है। इसी तरह सब परमाणु या अन्तिम अवयवों का आधार वही है और वह निषेधात्मक नहीं है। निषेध भी अनुयोगी और प्रतियोगी सापेक्ष में ही होता है। किसी का कहीं निषेध होता है। जिसका निषेध और जिसमें निषेध हो, वह निषेध भी शून्य नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' और 'अहं' भी एक ग्रंथि है। वह देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से पृथक् होने पर भी शून्य नहीं। मैं और मेरी दो वस्तुएँ होती है। बुद्धितत्व में 'मैं' और 'अहं' भी एक ग्रंथि है। वह देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से पृथक होने पर भी शून्य नहीं। मैं और मेरी दो वस्तुएँ होती हैं। बुद्धितत्त्व में 'मैं' प्रत्यय होता है। मैं उसके भीतर है और वह क्या है? शुद्ध चित्-प्रकाशमय और बुद्धि या अन्तःकरण का अन्योऽन्याध्यास है। चित् में अन्तःकरण का स्वरूपाध्यास है। अन्तःकरण में चित् का संसर्ग अध्यस्त

है। दोनों का अन्योन्याध्यासरूप ग्रन्थि है। वही 'अहं' या 'मैं' का वाच्यार्थ है। देहादि तो 'अहं' का गौण अर्थ है। अहं की प्रतीति, अहं का प्रकाश 'अहं' पद का लक्ष्यार्थ है। वह शून्य नहीं, वह तो शून्य का भी भासक है। शून्य प्रेमरूप भी नहीं होता। वह स्वयंरूप आत्मा अहम्, त्वम्, इदम् सबमें रहता है। **"अहं स्वयं जानामि, त्वं स्वयं जानासि, अन्यः स्वयं जानाति।"**

नागसेन शून्यवादी था, अतः उसका अन्तिम ध्येय शून्य हो सकता है। किन्तु वैदिक दार्शनिकों का पर्यवसान कथमपि शून्य में ही नहीं और न शून्य में शून्य मिलने का कोई अर्थ ही है। वेदान्तदर्शनानुसार उस ग्रंथिरूप अहंकार 'मैं' का बाध किया जाना है। उससे बाधित होने पर सर्वत्र व्यापक अखण्ड-बोध, अखंड-सत्ता, अखंड स्वयं अवशिष्ट रहता है। वही निषेध-शेष और वही अशेष है। **'निषेधशेषो जयतादशेषः।'**

वेदान्तानुसार सर्व-त्याग और सर्व-निषेध से ही उसका अनुभव होता है। वही प्रेम है। वही अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान या अनन्त आनंद इन शब्दों का वाच्यार्थ नहीं, लक्ष्यार्थ है। वह सर्वत्र एक ही है। उसमें 'अहम् त्वम्, इदम्' सब प्रविलीन हो जाते हैं। अहम् और त्वम् दोनों परस्पर विरोधी हैं, उनकी एकता तो हो ही नहीं सकती। बाध की एकता हुई तो वस्तु तो रही ही नहीं, फिर उसकी एकता क्या होगी? दो शश-शृङ्गों या दो वन्ध्या-पुत्रों की एकता क्या होगी? अतः जैसे दो घटाकाशों की एकता दोनों घट-उपाधियों का भंग होने से होती है, वैसे ही दो अहंकारावच्छिन्न चैतन्यों की एकता दोनों अहं के बाध होने में सम्भव है। लेकिन उसके लिए कामसेवन उपयोगी नहीं होता। वह तो अहंकार को दृढ़ करता है। विषयी कभी निरहंकार नहीं होता। विषय बाह्य है, जबकि वह द्रष्टा आन्तर है। बाह्य आसक्ति उसके ग्रहण में अधिक ही है। इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि 'उद्धव! विषयों को मत भोगो, इन विषयों को आत्मा के अग्रहण से निर्भात त्रैकालिक भ्रममात्र समझो' :

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥

(भाग० ११/२८/५८)

प्रेम में त्याग है, उत्सर्ग है। प्राणी यदि साधारण प्रेमास्पद के लिए सर्वस्व का त्याग कर सकता है, तो सर्वप्राणि-प्रेमास्पद भगवान् के लिए सर्वस्व का त्याग होना ही चाहिए। सर्वस्व-त्याग सुलभ है तो काम के लिए अवकाश ही कहाँ? महावृक्ष के त्याग से भी हमें त्याग की ही शिक्षा मिलती है, सम्भोग की नहीं। मन से विषय चिन्तन तथा प्रपञ्च की विद्यमानता ही मन की ब्रह्माकारता में बाधक है। यदि मिट्टी-पत्थर हटाने से कुआँ बन जाता है तो समष्टि, व्यष्टि, आन्तर-बाह्य सर्वप्रपञ्च हटा देने से मन ब्रह्माकार हो जाता है। इतना प्रयास तो करना ही पड़ेगा। बिना निषेध का आश्रयण किये कुआँ बनेगा ही नहीं। इसी तरह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च मन से निकाले बिना अखण्ड-बोध तत्त्व मन में प्रस्फुरित हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में त्याग या निषेध से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। घटाकाश व्यक्त करने के लिए उसमें भरी वस्तुओं को निकालना ही पड़ेगा। फिर तो सम्भोग से समाधि की बात एक नवीन आविष्कार का स्वप्नमात्र देखना है।

काम निसर्ग नहीं। बच्चे में प्रेम है, माता-पिता, भोजन और दूध में प्रेम है। भाई का बहन में और बहन का भाई में प्रेम है। वहाँ मैथुन की कल्पना भी नहीं। जब किसी में प्रेम नहीं होता तब भी आत्मा में प्रेम होता है। अतः आत्म-प्रेम ही स्वाभाविक है।

जिन्दगी रत्नों और हीरों का खजाना है। उसे निरर्थक बिताना नदी में फेंकना ही है। यथार्थ में तो जीवन की खोज करना ही आवश्यक है। जन्मने और मरने वाली वस्तु देहादि है, पर उसका आधार, भासक आत्मा अमर है। मर्त्य विनश्वर विविध प्रपञ्च के भीतर अनिश्वर आत्मा विद्यमान है। यह सही नहीं कि पूर्वजों ने जीवन को निःसार, व्यर्थ एवं दुःखरूप माना है। हाँ, यदि इसका सदुपयोग न किया गया तो अवश्य व्यर्थ है। शास्त्र कहते हैं कि 'यही

मनीषियों की मनीषा और यही बुद्धिमानों की बुद्धिमानी है कि वे मर्त्य—अनृत देह से अमृत—सत्य परमवस्तु को प्राप्त कर लें। अनित्य, असुख लोक को प्राप्त कर परमेश्वर को प्राप्त करना ही इसका सार्थकता है' :

''एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा न मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्यो नाप्नोति माऽमृतम्।।''

(भागवत)

''अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्।।' (गीता)

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।'

(भा० ११/२०/१७)

साधनधाम मोक्षकर द्वारा। पाइ न जो परलोक संवारा।।

सो कृतनिन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय।।

जीवति देह साधनधाम है, मोक्ष का द्वार है, अतिदुर्लभ है। संसार पार करने के लिए जहाज है। किन्तु इसका सौन्दर्य निखरता है त्याग में, राग या सम्भोग में नहीं। अतः वेटिंग-रूम जैसा गन्दा बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हम जो करते है, उसी से निर्मित होते हैं। अन्ततः हमें हमारा कृत्य ही निर्मित करता है। हम जो करते हैं, उसी को धीरे-धीरे हमारे प्राण, हमारी अन्तरात्मा का निर्माण हो जाता है—यह भी शास्त्र की ही बात है। साधुकारी साधु हो जाता है, असाधुकारी असाधु हो जाता है। इसीलिए शास्त्रों ने शुभकर्मों के अनुष्ठानों पर बल दिया है। किन्तु ऐसे स्थलों में देहादिविशिष्ट स्थूल आत्मा ही 'आत्म' शब्द से ग्राह्य है। इसीलिए यह कहना सर्वथा गलत

है कि 'धर्म के नाम पर अब तक जीवन का निरोध ही सिखाया गया।' ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' इत्यादि सहस्रों स्थलों पर शरीरादि को धर्म का परम साधन माना गया है। अतएव 'अब-तक जीवन मृत्युवादी था, जीवनवादी नहीं' यह बात बौद्ध, जैन आदि के लिए ही कही जा सकती है। वैदिक-धर्म में परम सम्मान है; पर उसका फूल-फल-ज्ञान-विज्ञान या मोक्ष ही है, कामभोग नहीं।

यह भी कहना गलत है कि ''मृत्यु के बाद क्या है? स्वर्ग, मोक्ष, मृत्यु के पहले क्या है? उससे आजतक के धर्म का जैसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है।'' क्योंकि मृत्यु के पूर्व जीवन से ही तो स्वर्ग और मोक्ष होता है। जो सदाचारी, तपोमय, ज्ञान-विज्ञानमय जीवन बनाता है वही स्वर्गमोक्ष सम्पादित कर सकता है। विलासी जीवन, काममय जीवन कभी भी वैसा फलदायी नहीं हो सकता। वैदिक धर्म में तो जीवन्मुक्ति की ही मान्यता है। जिसने अपने मन को समता में स्थिर कर लिया, उसने इसी जीवन में सबकुछ जीत लिया :

''इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'' (गीता ५/१९)

जो इसी जीवन में काम-क्रोध में वेगों को सहन कर सकता है, वही प्राणी सुखी होता है :

''शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।''

(गीता ५/१३)

''अब तक के धर्मों में जीवन को भुला देने'' की जो बात कही गया है, वह नितान्त असत्य है। शास्त्रों में तो जीवन से ही धर्म-ब्रह्म की प्राप्ति कही गयी है। तपोमय, सदाचारमय, ज्ञान-विज्ञानमय जीवन आनन्द की ही वर्षा करता है। वह कल्पना ही नहीं समस्त संसार को नन्दन-वन बना देता है। श्रीराम और हरिश्चन्द्र ने सारे विश्व को आनन्दमय बनाया और अन्त में सबको साथ लेकर दिव्य-धाम, अनन्त आनन्द में पहुंच गये। वही जीवन

जीवन में जीवन की ओर से आँखें बन्द कर का लाभ है। ज्ञान-विज्ञानमय जीवन से भागनेवाले को लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। गीता में स्वयं जीवन से भागनेवाले को 'तमोनिष्ठ' कहा गया है। कायक्लेश के भय से किया गया त्याग कभी फलदायी नहीं होता।

कहा जाता है कि "आज के धर्म में बूढ़े लोग ही उत्सुक रहे हैं। मन्दिरों और चर्चा में वे ही जाते हैं, वहाँ युवक या छोटे बच्चे दिखाई नहीं पड़ते। इसका यही कारण है कि अबतक का धर्म बूढ़ों का ही धर्म रहा है। जिनकी मौत करीब आ गयी, जो मौत से भयभीत हैं, और मौत के बाद क्या होगा—इस सम्बन्ध में चिन्तित हैं, जो धर्म मौत पर आधारित है, वह सारे जीवन को कैसे प्रभावित कर सकता है? वह सारे संसार को धार्मिक कैसे बना सकता है? तभी तो पाँच हजार वर्षों की धार्मिक-शिक्षा के बाद भी पृथिवी रोज की रोज अधार्मिक से अधार्मिक होती चली गयी। मन्दिर, मस्जिद, चर्च पुजारी-पुरोहित, संन्यासी सभी हैं; लेकिन पृथिवी धार्मिक नहीं हुई। कारण, धर्म का यह आधार ही गलत है कि धर्म का आधार जीवन नहीं, मृत्यु है; खिलते हुए फूल नहीं, मृतक के पत्थर हैं।"

किन्तु ये सब बातें भी अविचारित-रमणीय एवं असत्य ही हैं। शायद लेखक धर्म के संबंध में कुछ भी नहीं समझता। धर्म जन्म से भी पहले से आरम्भ होता है। वहाँ भी धर्म होता है। उसके बाद सीमन्तोन्नयन संस्कार होता है। फिर पैदा होते ही जातकर्म-संस्कार, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, वेदारम्भ आदि संस्कार होते हैं। वेदाध्ययन उपनीत बालकों का मुख्य कर्तव्य है। वेद में यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग की शिक्षा दी गयी है; फिर भी प्राथमिकता धर्म की ही है। क्योंकि धार्मिक जीवन से ही अर्थ और काम की भी सिद्धि हो सकती है। ज्ञान ही सर्वविध पुरुषार्थ का मूल है। इसीलिये संसार के भी राष्ट्रों में प्रारम्भिक जीवन की बेला में ही ज्ञान-विज्ञान के अर्जन का प्रयत्न किया जाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से धर्म दो प्रकार का ही होता है। प्रवृत्ति

प्रवृत्ति-लक्षण धर्म ही चलता है। निवृत्ति-लक्षण धर्म तो प्रथम का फल होता है। स्कूलों में निम्न श्रेणी के बच्चे बहुत होते हैं। प्रथम श्रेणी के बालकों की उतनी बड़ी संख्या नहीं होती, पर विद्यार्थी सभी हैं। वैसे ही स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, तरुण सभी धर्म मानते और धर्म पर चलते हैं, किन्तु फलभूत निवृत्ति पर चलनेवालों की संख्या कम ही होती है। धार्मिक उत्सवों में वृद्ध और बालक, युवक एवं युवतियाँ सभी भाग लेते हैं।

ह्रास और विकास प्रकृति का नियम है। जो प्रकृति को पार कर जाते है। वे ही ह्रासविकासातीत परमपद को प्राप्त होते हैं। सूर्य उदित होकर तरुण हाता है, ढलता है और अन्त मे अस्तंगत भी हो जाता है। मनुष्य भी इसी क्रम से ह्रासविकास का भागी होता है। संसार के कण-कण का यही हाल है। फिर भी उन सबके भीतर एक अमृत, अनन्त, अखण्ह, परम रसमय, आनन्दमय वस्तु है। उसी से सब सरस होता है। संसार की सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म का कभी विकास तो कभी ह्रास भी होता है। कभी बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी धर्मनिष्ठ और धर्मनिष्णात होते हैं। कभी केवल कुछ वृद्ध और वृद्धाएँ ही उसके प्रेमी रह जाते हैं।

न सदा विकास की स्थिति रहती है और न सदा ह्रास की ही स्थिति। सूर्य अस्ताचल को जाता है, पुनः प्रातःकाल होता है और उसकी स्वर्णिम किरणों धराधाम को अलंकृत करती हैं। नयी उमंग और नये जोश से पुनः मनुष्य, पशु-पक्षी कार्य में संलग्न होते हैं। अतः आज जैसी स्थिति सदा नहीं रही और न रहेगी ही। कोई ग्रीष्मऋतु के उजाड़ को देख यह नहीं कह सकता कि सदैव यही हाल रहता है, अतीत तथा भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। फलतः वैदिक-सिद्धान्त में बालक तथा बालिका, वृद्ध एवं वृद्धा, तरुण और तरुणी जीवन और मरण में एवं लोक और परलोक में सर्वत्र धर्म का ही अनुभव करते हैं।

यह कहा जा चुका है कि सभी प्रजा, शासक, शासन, दण्डविधान आदि के बिना मात्र धर्म से ही आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हैं। बालक

के गर्भाधान, जातकर्म, वेदाध्ययन, विवाह आदि सभी कर्मों को माङ्गलिक समझकर वादित्र, नृत्य-गीत आदि द्वारा उत्सव मनाया जाता है। राम, कृष्ण, वामन, नृसिंह, आदि अवतारों और महापुरुषों, ऋषियों, महर्षियों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं। तत्त्वज्ञ जीवन के फूलों-फलों और मृत्यु की पुरझान तथा ग्लानि दोनों से परिचित होते हैं। वे दोनों में आसक्त न होकर दोनों से ऊपर, उभयातीत वस्तु की प्राप्ति के लिए दोनों का ही सदुपयोग करते हैं।

कहा जाता है कि "जीवन के अतिरिक्त न कोई परमात्मा है और न हो सकता है। जीवन को साध लेना ही धर्म की साधना है। जीवन के सत्य का अनुभव कर लेना ही मोक्ष की सीढ़ी है। पर अब तक का रूख कहता है कि जीवन को छोड़ो, उसे त्यागो।" परन्तु यह विचार अत्यन्त भ्रामक है। यदि ईश्वर या परमात्मा कोई नहीं तो परमात्मा का नाम लेकर दूसरों को धोखा क्यों दिया जाता है? फिर हिम्मत के साथ क्यों नहीं कहते कि हम कभी ईश्र को नहीं मानते? फिर उसके ध्यान के शिविरों का आयोजन क्यों?

यह भी कहा जाता है कि "मनुष्य के सामान्य जीवन में केन्द्रीय तत्त्व क्या है? परमात्मा, आत्मा या सत्य? नहीं, जिसने प्राणों की गहराई से खोज नहीं की, यात्रा नहीं की, जिसने कोई साधना नहीं कि उसके प्राणों की गहराई में क्या है? प्रार्थना-पूजा? नहीं, बिल्कुल नहीं। मनुष्य के जीवन की ऊर्जा की खोज करें। जीवन-शक्ति को खोजने जायें तो वहाँ परमात्मा नहीं दिखाई पड़ेगा। वहाँ जो दिखाई पड़ेगा, उसे भूलने की चेष्टा की गई है, जानने-समझने की नहीं। प्राणों को चीर और फाड़कर खोजें तो वहाँ क्या मिलेगा? अगर हम एक पौधे की छानबीन करें तो क्या मिलेगा? एक पौधा पूरी तरह से चेष्टा कर रहा है बीज उत्पन्न करने की। उसके प्राण नये बीज इकट्ठा करने और जानने की चेष्टा कर रहे हैं। एक पक्षी, एक पशु, सारी प्रकृति को खोजने जायें तो पायेंगे कि सारी प्रकृति में एक ही क्रिया जोर से प्राणों को घेरकर चल रही है। सतत् जनन-क्रिया ही वह विद्या है—जीवन को पुनरुज्जीवित करने की, नये रूप में जीवन देने की। फूल बीज को संभाल

रहे हैं, फल बीज को संभाल रहा है। बीज फिर पौधा बनेगा, फिर फूल बनेगा। इस दृष्टि से जीवन जन्मने की अनन्त-क्रिया का नाम है। जीवन एक ऊर्जा है, जो स्वयं को पैदा करने में सतत संलग्न है। वह सतत सृजन की चेष्टा है। उसी का नाम 'सेक्स' या 'काम' है। इस नाम के कारण उस ऊर्जा को गाली मिली, निन्दा का भाव पैदा हो गया। उसे ही 'कामशक्ति' कहना चाहिये।''

किन्तु ये विचार दिग्भ्रान्त-धारणा के ही परिणाम हैं। आप कहते हैं कि ''आत्मा परमात्मा नहीं, धर्म नहीं, प्रार्थना-पूजा नहीं। सब प्राणियों में, प्राणों में, जीवन में सारतत्त्व काम है। चीरने-फाड़ने पर, छानबीन करने पर परमात्मा आदि नहीं मिलता। धर्म, पूजा-पाठ नहीं मिलता। केवल सृजन-क्रिया मिलती है, वही मनुष्यों में भी है, वही काम है। कामशक्ति है, सेक्स है। इस दृष्टि से वही रत्न है। भूल से हमने उसी को एक-एक कर फेंका है।'' किन्तु आपके अनुसार जो गया सो गया, उसकी चिन्ता न कर शेष रत्न का सदुपयोग करना चाहिए। तब एक वृद्ध, शतायु अपने शेष जीवन का सावधान होकर उपयोग करना चाहे तो क्या करे?

आपके अनुसार तो 'आत्मा-परमात्मा कुछ है ही नहीं, प्रार्थना-पूजा भी कुछ नहीं, सार है तो काम और सेक्स ही।' तो क्या उस दशा में भी वह वही करे? साथ ही वह तो अन्यनिरपेक्ष नहीं सापेक्ष है। तब क्या ऐसे शतायु विधुर एवं विधवाओं को पुनर्विवाह का प्रयत्न करना चाहिये? यदि स्वाभाविकता पर विचार करें तो कोई भी वृद्ध वृद्धा को नहीं चाहता और न कोई वृद्धा वृद्ध को चाहेगी। साथ ही षोडशी भी वृद्ध को नहीं चाहेगी, एक युवक भी शतायु स्त्री नहीं पसन्द करेगा। तब क्या यही उन शतायुओं की साधना होगी? यही उनकी गहराई से जीवन की खोज है?

वस्तुस्थिति तो यही है कि सेक्स या काम की अपेक्षा प्राणी के सामने प्रथम समस्या आत्मा की ही है। सब प्राणी और सभी तत्त्व स्वभाव से अपना जीवन चाहते हैं; अपना अस्तित्व या सत्ता चाहते हैं। सभी चाहते हैं कि 'मैं

कभी मिट न जाऊँ, सदा बना रहूँ, सदा जानता रहूँ, भासमान रहूँ, मैं सदा सुखी रहूँ, मैं सदा स्वतन्त्र रहूँ, सदा शासक रहूँ।' लेकिन जीव सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान, सीमित आनन्द सीमित स्वातन्त्र्य एवं सीमित शासनशक्ति से युक्त होते हैं। निःसीम सत्ता, निःसीम ज्ञान निःसीम आनन्द आदि ईश्वर का ही होता है। प्रत्येक सीमित सत्तावाला चाहता है कि मेरी निःसीम सत्ता हो, मेरा निःसीम ज्ञान और अनन्त आनन्द हो। इस तरह सभी सीमित सत्ता को निःसीम, सीमित ज्ञान को निःसीम और सीमित आनन्द को निःसीम बनाने में लगे हैं।

पशु के गले से रस्सी खुल जाय तो वह भी 'स्वतन्त्र' कहा जा सकता है, किन्तु उसके गले में पुनः रस्सी डाली जा सकती है, अतः वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। जरा-मरण-पराधीन, क्षुधा-पिपासा-पराधीन कोई प्राणी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अतः कर्म-बन्धन से छूटकर स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देहत्रय से शून्य होकर पञ्चकोश-कञ्चुक से विनिर्मुक्त, अनन्त-अखण्ड-स्वप्रकाश बोधरूप होने पर ही पूर्ण स्वातन्त्र्य संभव है। भेदभाव-शासन में कभी पूर्ण शासन नहीं होता। जैसे अधिष्ठान की सत्ता के पराधीन ही कल्पित की सत्ता एवं स्फूर्ति होती है, वैसे ही जिस अखण्ड-बोधरूप ब्रह्म की सत्ता और स्फूर्ति से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च सत्तावान् एवं स्फूर्तियुक्त हो रहा है वही पूर्ण शासनशक्ति-सम्पन्न शासक है। इस तरह आप देखेंगे कि सभी तत्त्व अपने सत्ता, स्फूर्ति, आनन्द, स्वातन्त्र्य आदि के रक्षण में लगे हैं। उसे सीमित से निःसीम बनाने के लिए जुटे हैं। अतः मूल ध्येय आत्मा है, ब्रह्म है।

सत्ता, ज्ञान, आनन्द और स्वातन्त्र्य का रक्षण ही सत्तादि का संवर्द्धन है। उनकी निःसीमता, अनन्तता के सम्पादन की ओर ही सभी का प्रयास है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि लोक में ऐसा कोई है ही नहीं, जो राम का अनुव्रत भक्त न हो। राम प्राण के प्राण हैं, सुख के सुख हैं और हैं जीवन के जीवन। सभी तत्त्व जाने-अनजाने उसी की ओर सतत गतिशील हैं। यही आत्मप्रेम है। आत्मा में ही सबका निरुपाधिक, स्वाभाविक और नित्य प्रेम होता है।

किन्तु सामान्य प्राणी उस अनन्त-नित्य-निःसीम सत्ता, अनन्त-नित्य-निःसीम ज्ञान एवं तथाविध अनन्त-नित्य आनन्दरूप आत्मा को नहीं पहचानते अन्योन्याध्यास के कारण जो देहादि को ही आत्मा मानते हैं, वे देहादि की ही रक्षा और संवर्द्धन में लगे रहते हैं। इतना ही क्यों, इस शिष्ट भौतिक जीवन से सम्बद्ध ज्ञानी भी देहादि के रक्षण और संवर्द्धन में संलग्न रहते हैं। इसी दृष्टि से सबके सामने प्रथम समस्या है जीवित रहने की। तदर्थ रोटी और पानी की अपेक्षा है। किसी को पहले भूख मिटाने को रोटी और प्यास मिटाने को पानी चाहिये। रोग-निवृत्ति के लिए औषध चाहिये। इसीलिए प्रत्येक प्राणी जन्म से मरण तक, जगने से सोने तक भोजन और पान के अन्वेषण में ही संलग्न है। बीजों, पौधों, वृक्षों, पुष्पों, फलों को आत्मरक्षण एवं आत्मपोषण की ही चिन्ता है। आत्मरक्षण के लिए सभी व्यग्र हैं। सेक्स या काम की समस्या उसके बाद की समस्या है। प्राणी को पहले पानी और रोटी चाहिये। पहले काम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वृद्ध और बालक तरुण और तरुणी, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, पुमान् और नपुंसक, कामसेवन के योग्य एवं कामसेवन के अयोग्य सभी को रोटी-पानी, भोजन-खुराक, जीवन-साधन, सत्ता-रक्षण, सत्ता-वर्धन एवं निःसीमतापादन अपेक्षित है। मनुष्य, पशु-पक्षी सभी कभी-कभी ही काम की इच्छा करते हैं। भूख की हालत में किसी को भी काम नहीं सुहाता : **'क्षुधितस्य वधेतरे।'** बिना कामसेवन के सैकड़ों वर्ष रहा जा सकता है, पर बिना रोटी-पानी के एक दिन भी नहीं रहा जा सकता। किन्तु क्या इसका यह निष्कर्ष है कि आत्मा नहीं, परमात्मा नहीं एवं पूजा-प्रार्थना नहीं, रोटी-पानी ही सबकुछ है, काम ही सबकुछ है?

कहा जाता है कि 'हजारों लाखों वर्षों से समुद्र की लहरें टकराती और लौट जाती हैं। जीवन भी हजारों वर्षों से अनन्त लहरों से टकरा रहा है। जीवन जरूर कहीं उठना चाहता है। यह जीवन-सागर अरबों वर्षों से टकरा रहा है। यह भी वृहत्तर ऊँचाई को छूने का आयोजन चल रहा है।

मनुष्य को जमीन पर आये बहुत दिन नहीं, कुछ लाख वर्ष हुए होंगे। उसके पहले मनुष्य नहीं, पशु थे। पर किसी समय पशु भी नहीं थे, पौधे थे। पौधों को आये भी बहुत समय नहीं हुआ। एक समय था, जब पौधे भी नही थे। पत्थर, पहाड़, नदियाँ थीं; पर वह दुनियाँ पौधों को पैदा करने के लिए पीड़ित थी। पौधे धीरे-धीरे पैदा हुए, जीवन ने एक नया मोड़ लिया। पृथ्वी हरियाली से भर गयी, फूल खिले, लेकिन पौधे अपने में तृप्त नहीं थे। वे सतत जीवन को जन्म देते रहे, उनकी भी कोई चेष्टा चल रही थी। पशुओं और पक्षियों को जन्म देना चाहते थे। पशु-पक्षी पैदा हुए। संसार पशु-पक्षियों से भर गया पर मनुष्य का कहीं पता नहीं था। पशु-पक्षियों के प्राणों के भीतर मनुष्य का निवास था। मनुष्य पैदा हुए। मनुष्य नित्य नये जीवन को पैदा करने के लिए आतुर थे। उसे ही 'सेक्स' कहते हैं। उसे 'काम-वासना' कहते हैं। मनुष्य भी मनुष्य से ऊपर महामानव, सुपरमैन पैदा करने की कोशिश में हैं। सब महापुरुष, दार्शनिक उसी प्रयत्न में लगे हैं। पर हमने तो 'सेक्स' को गाली देकर निन्दित कर दिया है। फिर मनुष्य से बड़ा महामानव कैसे पैदा हो सकता है?

लेकिन ये सब बातें निरर्थक ही हैं। कहा ही जा चुका है कि सर्वत्र अवैध काम की ही निन्दा है, वैध काम तो परमेश्वर का स्वरूप ही है। काम की निन्दा करनेवाले बहुत ही कम, मुष्टिमेय व्यक्ति होंगे। काम-परायण, कामोपासक तो सम्पूर्ण संसार है। समष्टि-कामना के सामने नगण्य व्यष्टि-निन्दा का असर ही क्या हो सकता है? वस्तुत: उक्त विकासवादी सिद्धान्त पूर्णरूप से खण्डित हो चुका है। (देखिये : 'मार्क्सवाद और रामराज्य')।

जड़वादियों की दृष्टि में पृथ्वी, पहाड़, तेज, वायु आदि अचेतन वस्तुएँ हैं। वायु, जल, तेज गतिशील भी होते हैं। उन्हीं के संसर्ग से पार्थिव तत्त्वों की गति होती है। भूतों के आपसी सहयोग से ही समुद्र नदियों में सर्वत्र हलचल होती है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र आदि भी स्वभाव से ही गतिशील हैं। उनकी दृष्टि में जीवित देहों में चेतना भी भूतों का ही परिणाम है।

विकासवादियों की दृष्टि में भी मानव प्रकृति का अन्तिम परिणाम है। व्यवहारत: हम सभी देख रहे है कि लाखों वर्षों से विविध पशु-पक्षी, वानर, मानवादि का कोई नया परिणाम नहीं हुआ। गाय, गाय ही है; घोड़ा-घोड़ा ही है; हाथी हाथी ही है; यहाँ तक कि मत्स्य, कच्छप आदि का भी स्वरूप वही-का-वही परिलक्षित हो रहा है। वर्तमान सृष्टि के एक भी जीव का रूपान्तरण दृष्ट नहीं।

अध्यात्मवादियों की दृष्टि से तो सम्पूर्ण दृश्य जड़-प्रपञ्च अनन्त चैतन्य का ही विवर्त है। दृश्य-जड़, अचेतन की प्रवृत्ति चेतन के ही लिए होती है। शय्या, भवन आदि संहत भोग्य-पदार्थ अपने लिए नहीं होते, किन्तु अपने से विलक्षण असंहत देवदत्तादि भोक्ता के लिए होते हैं। वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का सङ्घात भी अपसे से विलक्षण चेतन के लिए ही होता है। जैसे भृत्य की प्रवृत्ति स्वामी के प्रयोजन से प्रयुक्त होती है, वैसे ही सभी अचेतन आत्मा के लिए ही प्रवृत्त होते हैं।

इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से भी सृष्टि आकस्मिक नहीं। ये घट-कलश, मेज-मशीन आदि अपने आप नहीं बन जाते। किसी ज्ञानवान्, क्रियावान्, इच्छावान्, चेतन कुलाल, बढ़ई, कारीगर आदि द्वारा ही निर्मित होते हैं। इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, भूमि, भूधर, सागर आदि का भी निर्माण किसी ज्ञानवान्, क्रियावान्, इच्छावान् के प्रयत्न का ही परिणाम है। वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। वह परमेश्वर भी निरर्थक सृष्टि का निर्माण नहीं करता, किन्तु प्राणियों के कर्मानुसार ही विविध विश्व-प्रपञ्च का निर्माण करता है।

जैसे बीज एवं अंकुर की परम्परा अनादि ही है, वैसे ही अनादि जीवों के जन्म एवं कर्म की परम्परा भी अनादि ही है। बिना कर्मों के जन्म नहीं हो सकता और बिना जन्म के कर्म भी नहीं हो सकते। संसार में कारण में विलक्षणता के बिना कार्य में विलक्षणता नहीं आती, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। प्रलय-काल में ईश्वर में जीव भी रहता है। ईश्वर का अनुग्रह तो सदैव

रहता है, फिर भी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि के बिना या श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के बिना तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता। तत्त्व-साक्षात्कार से ही जन्म और कर्म की धारा रुकती है। जैसे बीज और अंकुर की अनादि परम्परा भी बीज के भर्जित, क्वथित हो जाने पर विच्छिन्न हो जाती है, वैसे ही तत्त्व-ज्ञानाग्नि से कर्म-बीजों के दग्ध होने पर जन्म और कर्म की परम्परा भी विच्छिन्न हो जाती है। अन्यथा और किसी भी प्रकार से वह धारा विच्छिन्न नहीं होती।

पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सभी सावयव हैं, विकारी हैं। वे नित्य नहीं हो सकते। उनकी भी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति भी बिना हेतु के, बिना कारण के अपने आप नहीं हो सकती। अत: उत्पत्ति के लिए उपादान-कारण, निमित्त-कारण एवं सहकारी-कारणों की अपेक्षा है। ईश्वर और प्रकृति निमित्त-कारण एवं सहकारी-कारणों की अपेक्षा है। ईश्वर और प्रकृति निमित्त-कारण हैं तो कर्मादि सहकारी-कारण। जन्म-कर्मों की परम्परा का आश्रय अनादि जीव ही है अन्यथा जन्म-कर्म किसके होंगे?

अभिन्न-निमित्तोपादन-पक्ष में भी अनादि जीव एवं उनके कर्म-संस्कार ब्रह्म कारणनिष्ठ शक्ति में सन्निहित रहते हैं। अतएव कोई भी कार्य निर्मूल एवं निर्हेतुक नहीं होता। इसीलिए मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी, पौधे आदि सभी अनादि जीव हैं और वे कर्मों के अनुसार ही संकोच-विकासभाव को प्राप्त होते हैं। पौधे, पशु, पक्षी, मनुष्यादि शरीर हैं। उनसे भिन्न जीव चेतन वस्तु है और अनन्त चेतन परमात्मा के ही अंश हैं।

पौधों से पशु-पक्षी एवं पशु-पक्षियों से मुनष्य उत्पन्न नहीं होते। यदि यह बात होती तो आज भी पौधों से पशु-पक्षी तथा पशु-पक्षियों से मनुष्य उत्पन्न होते दिखाई देते। इसी तरह मनुष्यों से भी कोई जात्यन्तर उत्पन्न होनेवाला नहीं। निम्ब, आम्रादि के बीजों से निम्ब, आम्रादि के ही पौधे उत्पन्न होते हैं, विपरीत नहीं।

कुएँ के विपरीत परिणाम का नियम अव्यभिचरित नहीं है। संसार का

कोई भी काम विधि-निषेधों पर ही आश्रत है। मोटर, रेल और वायुयानों में भी सावधानी के संकेत होते हैं, खतरे से अगाह किया जाता है। बड़े कारखानों, विद्युत-केन्द्रों में विधि-निषेध का बोलबाला है। साइकिल का नवसिखुवा व्यक्ति अभ्यास के अभाव में ही पत्थर से टकराता है। इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि पत्थर से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

कहा जाता है कि 'प्राणी जिससे बचना चाहता है, चेतना उसी पर केन्द्रित हो जाती है और परिणाम में प्राणी उसी से टकरा जाता है।' किन्तु यह नियम भी अर्धपक्व या अपक्व व्यक्ति के लिए ही लागू होता है। कितने ही मांस, मद्य, हिंसादि निषेधों का पालन करनेवाले लोगों की कभी भी उधर प्रवृत्ति नहीं होती। बिजली छूने का निषेध है, पर किसी की चेतना उसे छूने को उतावली नहीं होती। साँप के मुख में अंगुली नहीं देनी चाहिये, इस निषेध के होने पर भी किसी की प्रवृत्ति साँप के मुख में अंगुली डालने की नहीं होती। सिंह, व्याघ्र, अग्नि, आदि से दूर रहना चाहिये, हिंसा, चौर्य आदि से बचना चाहिये—ऐसा निर्धारण करके लोग उससे बचते ही हैं। फिर काम या सेक्स का वैसा निषेध भी नहीं है। हाँ, कुछ विधि-निषेध यहाँ भी है। माँ-बहन-बेटियों के सम्बन्ध में निषेध है, तो पत्नी के सम्बन्ध में विधान है। निषेध मात्र से किसी की भी प्रवृत्ति माँ-बहन-बेटियों की ओर नहीं होती।

आप कहते हैं कि "पृथ्वी उस दिन सेक्स से मुक्त हो जायेगी, जब हम सेक्स के सम्बन्ध में सामान्य स्वस्थ बातचीत करने में समर्थ हो जायें। जब हम सेक्स को पूरी तरह समझ लेंगे, तभी उसका अतिक्रमण कर सकेंगे।" किन्तु उससे भी अधिक सत्य यह है कि कोई सेक्स या काम को कितना ही समझ ले, जब तक वह सेक्स, काम एवं उसके आश्रयभूत विषयों का सन्निधान एवं चिन्तन या सङ्कल्प नहीं छोड़ेगा तब तक कभी भी उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। हमारे इस कथन में युक्ति; तर्क है; अनुभव है और है आप्त-वचन। सन्निधान तो क्या, विषयसेवन भी उतना हानिकारक नहीं जितना उसका चिंतन खतरनाक है। चिन्तन से ही विषयों में आसक्ति—राग

और उत्कट कामना बन जाती है। फिर निर्णयात्मिका बुद्धि पर भी असर पड़ता है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।

(गीता २/६२)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।

(गीता २/६७)

अर्थात् मन विषयों के ग्रहण मे संलग्न इन्द्रियों का अनुसरण करने लगता है। तब वह मन ही प्रज्ञा को भी आकृष्ट कर लेता है।

कहा जाता है कि "काम को पूरी तरह पहचानकर प्राणी उससे मुक्त हो सकता है। आँख बन्द कर लेने से शत्रु समाप्त हो गया, यह समझना शुद्ध पागलपन है। शुतुरमुर्ग जैसा समझता है कि दुश्मन के हमले पर रेता में सिर गड़ा देने से दुश्मन से बच जायेंगे, आज की सारी दुनिया वैसे ही सेक्स के सम्बन्ध में आँखें बन्द कर बैठ गई है।" परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। सेक्स या काम की तरफ से आँखें बन्द करने वाले तो दुनिया में ढूंढ़ने पर मुश्किल से ही कोई मिलेंगे। आँखें बन्द करने का अर्थ है कि काम और कामित विषयों का चिन्तन छोड़ देना। ऐसा व्यक्ति तो आत्मनिष्ठ, भगवत्-परायण, समाधि-सम्पन्न ही हो सकता है। स्वभाव से ही सभी प्राणी काम-चिन्तन में रत हैं, काम के सम्बन्ध में आदरवान् हैं। वे कामित विषयों के जितने भक्त हैं, उतने भगवान् के भक्त हों तो किसी की भी तत्काल मुक्ति हो सकती है।

यह भी कहना गलत है कि "सौ में अट्ठानबे काम दबाने के कारण पागल हैं। स्त्रियों में हिस्टीरिया, मिरगी, बेहोशी सब काम रोकने के परिणाम हैं। आदमी जो इतना बेचैन, अशान्त दुःखी और पीड़ित है, इसके पीछे अधिकांश काम है। उसमें जीवन की एक बड़ी शक्ति को बिना समझे उसकी

तरह से पीठ कर ली गई है और परिणाम उल्टे आ रहे हैं। कारण, कामनिग्रह का प्रश्न किसी ऐसे आस्तिक के सामने होता है, जो वेद-शास्त्र, पुराण-कुरान, बाइबिल आदि में विश्वास रखते हैं।

आजकल की शिक्षा-दीक्षा के वातावरण में सिनेमा, काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानियाँ पढ़नेवालों में दो चार प्रतिशत भी मुश्किल से मिलेंगे जो काम-निग्रह की बात सोचते हैं। फिर काम-निग्रह का प्रश्न ही कहाँ है? असल में आज की बीमारी का मूल उच्छृङ्खलता ही है। उच्छृङ्खलता में भी यह आवश्यक नहीं कि सभी चीजें सबको मिल ही जायँ। बहुत से शास्त्र-परम्परा न माननेवाले, काम-निग्रह की भावना न रखने वाले चाहने पर भी अभीष्ट काम-सेवन नहीं कर पाते। आये दिन प्रेमी-प्रेमिकाओं के समाचार आते रहते हैं।

आपके ही शब्दों में "हमारे सब साहित्य, किताबें, कविता, हमारे चित्र सेक्स पर केंद्रित हैं।" क्या यह काम-निग्रह का परिणाम है? आप कहते हैं कि "हर किताब के ऊपर नंगी औरत की तसवीर क्यों? हर फिल्म में नंगे आदमी की फ़िल्म क्यों?" किन्तु आश्चर्य है कि आपकी पुस्तक "सम्भोग से समाधि की ओर" में भी वैसा ही तो चित्र है। ऐसा चित्र जो सिनेमा में भी नहीं दिखलाया जाता वैसा की आपकी पुस्तक पर है।

"साँप के काटे तीन दिन में अच्छे हो सकते हैं। कुत्ते के काटने से भी प्राणी को आराम हो सकता है, पर आदमी के काटे हुए को आराम होने की कोई उम्मीद नही।" यह बात सही भी हो और मानव साँप-बिच्छू से अधिक जहरीला हो गया हो, तो भी देखना होगा कि इसका कारण क्या है? पर आप तो इसका कारण समझ लेते हैं काम का निग्रह, जो आज शून्य जैसा है। रोग बाहुल्य से रोग-हेतु का बाहुल्य होना चाहिये। किन्तु परिस्थिति इसके विपरीत है। आज तो काम-बाहुल्य है, पर काम-निरोध का बाहुल्य है ही नहीं। फिर रोग-बाहुल्य क्यों? अतः कहना पड़ेगा कि वर्तमान जहर का मूल काम-बाहुल्य ही है। दुर्भाग्य है कि आप उसी को बढ़ावा दे रहे हैं

समाधि के नाम पर, साधना के नाम पर! हर एक समझदार जानता है कि मल-मूत्र का वेगधारण करना निषिद्ध है, उससे रोग बढ़ता है : **"न वेगान् धारयेद्धीमान् ।"** किन्तु, काम, क्रोध, लोभ का वेग-धारण अत्यन्त लाभ का ही हेतु माना जाता है। क्रोध-वेग को न रोकने से होने वाले दुष्परिणाम सबको विदित हैं। काम-वेग के न रोकने के परिणाम राम-रावण संग्राम, कौरव-पाण्डव संग्राम हुए हैं। आज भी उसी वेग को न रोकने के कारण ही उच्छृङ्खलता का बोलबाला है। सिनेमाओं, शहरों-नगरों में जितनी हत्याएँ और गन्दगियाँ होती हैं, उन सब का मूल कारण काम-वेग को न रोकना ही है। "आज की सारी गन्दगी और जहर का मूल काम-निरोध है, काम-निन्दा है" यह कथन मतिभ्रम का ही परिणाम है।

कहा जाता है "हवाई-दुर्घटनास्थल पर पहुँचने पर हम हिन्दू-मुसलमान भारतीय-अभारतीय का विचार नहीं करते, किन्तु स्त्री-पुरुष का ही विचार करते हैं। रूप-रङ्ग, चेहरा, विद्या सब भूल सकते हैं, पर स्त्री या पुरुष की विस्मृति नहीं होती। यह सब क्यों? इसलिए कि भीतर रुद्ध काम की ज्वाला भड़क रही है।" पर यहाँ भी उल्टी ही बात है। और वस्तुओं के समान ही स्त्री-पुरुष भी भूले जाते ही हैं। 'विपत्ति के अवसर पर काम की प्रेरणा से हम स्त्री-पुरुष पहचानते हैं' यह कहना गलत है। संसार में सब स्त्री और सब पुरुष काम की दृष्टि से ही नहीं देखे जाते। कितनी ही स्त्रियों के प्रति पुरुषों की कितने ही पुरुषों के प्रति स्त्रियों की काम-भावना होती ही नहीं। वस्तुतः **"सर्व काममयं जगत्"** देखना भी कामोपासना का ही परिणाम है, काम-निरोध का नहीं।

यह कहना कि "पृथ्वी तब तक स्वस्थ नहीं होगी जब तक पुरुष और स्त्री के बीच यह दीवार और यह फासला खड़ा है। उबलती काम की आग के ऊपर उसे दबाये हुए जब तक बैठे हैं, कभी शान्ति नहीं होगी। वह आग जीवन को जलाकर राख कर देती है।" लेकिन इस नये फरिश्ते को मालूम नहीं कि स्त्री और पुरुष का यह भेद सेवन-बाहुल्य से नहीं मिटेगा। पशु-

पक्षियों पर कोई निषेध नहीं है, पर क्या उनमें काम-बाधा नहीं है? उनके भेद मिट गये? क्या उनमें स्त्री-पुरुष की पहचान नहीं होती? उनमें भी स्त्री के लिए लड़ाइयाँ नहीं होतीं?

आग का बुद्धिमानी से सेवन किया जाय, तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। बिजली से लाभ उठाया जा सकता है, यह कोई नयी बात नहीं है। आज मनुष्य बिजली से हजारों प्रकार के लाभ उठा रहा है, तब भी आज भी उससे खतरा है। बादल-वर्षावाली बिजली आज भी मौके-बेमौके नुकसान पहुँचाती है। तभी सावधानी बरतनी पड़ती है। आग भी नुकसान पहुँचाती है, तभी दमकलों का प्रबन्ध रखना पड़ता है। इसी तरह काम का सदुपयोग करना भी आपका नया आविष्कार नहीं। करोड़ों वर्षों से लोग काम से लाभ उठा रहे हैं। उसके सदुपयोग के ही सुपरिणामस्वरूप राम, कृष्ण, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि महापुरुषों का आविर्भाव हुआ। किन्तु असावधानी का दुष्परिणाम भी आज सबके सामने है। जिसे आप काम-निरोध का दुष्परिणाम मानते हैं, असल में वह सब असावधानी का ही दुष्परिणाम है।

सभी जानते हैं कि नियन्त्रित अग्नि एवं नियन्त्रित बिजली ही लाभदायक होती है। अनियन्त्रित अग्नि या बिजली सभी सर्वनाश के हेतु हैं। ठीक यही नियम काम के सम्बन्ध में भी है। ऐसे ही परमाणु-शक्ति के भी कुछ नियम हैं। अमुक-अमुक प्रकार से परमाणु के विश्लेषण से वह शक्तिशाली परमाणु-बम या उद्जन-बम के रूप में व्यक्त हो सकता है। यहाँ भी माना ही जाता है कि शुक्र की दिव्यशक्ति नियन्त्रित होकर भीष्म, हनुमान् एवं स्कन्द जैसे शक्तिशाली का निर्माण कर सकती है।

यह सर्वविदित है कि पानी बरसता है, बह जाता है और हम कोई लाभ नहीं उठा पाते। किन्तु यदि हम बाँध आदि बाँधकर पानी का नियन्त्रण कर लें तो 'भाखरा-बाँध' बना सकते हैं। फिर उससे बिजली निकालकर, नहरें निकालकर देश को हरा-भरा और चमाचम कर सकते हैं। इसी तरह श्वास-प्रश्वास की बात है। श्वास-प्रश्वास बिखरते हैं। उनसे कोई लाभ

नहीं होता, पर उनका प्रच्छर्दन-विचार का पूरक, कुम्भक, रेचक करके नियन्त्रण करने पर बड़ी-बड़ी शक्तियाँ व्यक्त होती हैं।

यही स्थिति प्रत्येक इन्द्रिय की है। गान्धारी ने नियन्त्रण के प्रभाव से अपनी नेत्रशक्ति को इतना दिव्य बना लिया था कि निरीक्षणमात्र से दुर्योधन की देह को वज्रोपम बना डाला। केवल कृष्ण की नीति से कुछ अङ्ग वज्र न हो सका, इसीलिए उसकी मृत्यु हुई। वाक्-संयम से साधक लोग वाक्-सिद्धि आदि प्राप्त करते हैं। मन का संयम करने से तो प्राणी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता के समीप भी पहुँच जाता है। ठीक इसी तरह शुक्र एवं उपस्थ-इन्द्रिय के संयम से ही उसमें दिव्य-ऊर्जा विकसित हो सकती है, स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय देने या संयम एवं निषेध से भागने से नहीं।

काम एवं सेक्स को जानने या समझने की मनाही कहीं भी शास्त्रों में नहीं है। काम ही क्या, एक नगण्य तृण का भी विचार करना और उसके तत्त्व को समझना परमात्म ज्ञान में उपयोगी है। किन्तु ज्ञान एवं समझदारी की ऊँची बातें करके भी स्त्री और पुरुष के बीच की दीवार मिटाना, सबको नङ्गा रहकर परस्पर व्यवहार की शिक्षा देना कभी भी लाभदायक नहीं हो सकता। इससे ज्ञान थोड़ा होगा, अज्ञान ज्यादा बढ़ेगा।

मनुष्य का जन्म काम से होता है, यह सभी लोग जानते हैं। इतना ही क्यों, **'सोऽकामयत'** (बृ० उ० १/४/१७) के अनुसार परमेश्वर भी काम से ही प्रपञ्च का निर्माण करता है। ऋषि-मुनि काम का निषेध नहीं करते, उसे नियन्त्रित करके उससे शक्ति प्राप्त करते हैं।

"काम के विरोध में बोलनेवाले और काम के विरोध का प्रयत्न करनेवाले सभी काम से परेशान हैं। उनके मन में काम का आतंक रहता है", यह कहना सत्य नहीं है। साधु-संन्यासी ही नहीं, बहुत से साधारण गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी ऐसे होते हैं, जिनमें काम की कल्पना भी बहुत कम होती है। कितनी ही बाल-विधवाओं, कितने ही साधु-संन्यासियों को काम की स्मृति भी नहीं होती, किन्तु बहुतों पर इसका प्रभाव भी होता है। जो

लड़ाई लड़ता है, मुकाबिला करता है ही तो शत्रु के प्राबल्य को भी जानेगा। जिसने कभी नियन्त्रण की बात ही नहीं सोची जो काम का पूर्ण उपासक बन गया, वह उसके प्राबल्य को क्या समझेगा?

यह ठीक है कि काम को सिखाना नहीं पड़ता। बिना सिखाये और छिपाने और रोकने का प्रयत्न करने पर भी काम का ज्ञान सबको है। उसके रहस्यों में सबका आकर्षण है, इसीलिए कि वह स्वाभाविक है। यह भी कोई नयी बात नहीं। प्रेम भी सिखाना नहीं पड़ता। जीने की कामना, जीवन बचाने की कामना सभी को है। मरने से सभी भयभीत होते हैं। उनमें से कुछ वस्तुएँ, आध्यात्मिक हैं, अनपेक्षित नित्य हैं। कुछ वस्तुएँ आवधिक होने से सापेक्ष नित्य हैं। सत्ता, जीवन, ज्ञान, आनन्द, स्वातन्त्र्य आदि आत्मीय हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, खाना, सोना, डरना, काम-परायणता आदि आवधिक हैं।

शास्त्रानुसार शास्त्रीय, नियन्त्रित काम-कर्मज्ञान द्वारा पाशविक काम-कर्मज्ञानरूप मृत्यु का अतिक्रमण करना पड़ता है। यही अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण है :

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।" (ईशोप० ११)

कहा जाता है कि "काम का जो आकर्षण है, वह काम, सेक्स या वासना का आकर्षण नहीं; क्योंकि मनुष्य कामकृत्य के बाद पछताता है, दुःखी होता है। सोचता है कि इससे कैसे मुक्त हो जाऊँ।" किन्तु यह आकर्षण धार्मिक अर्थ रखता है। मनुष्य के सामान्य जीवन में काम सिवा सेक्स की अनुभूति के कभी भी गहरे से गहरे प्राणों में नहीं उतरता। वह किसी भी क्षण अपना अतिक्रमण नहीं कर पाता। लेकिन काम का, सम्भोग का अनुभव उसे गहरे से गहरे में ले जाता है। उसकी गहराई में दो घटनाएँ घटती हैं। एक तो सम्भोग के अनुभव में अहंकार विसर्जित हो जाता है। एक क्षण के लिये निरहंकारता व्यक्त हो जाती है। एक क्षण यह याद भी नहीं रहता कि 'मैं हूँ।' धर्म के श्रेष्ठतम अनुभव में 'मैं' बिल्कुल मिट जाता है,

अहंकार शून्य हो जाता है। सेक्स के अनुभव में भी क्षणभर को अहंकार मिटता है। लगता है 'हूं या नहीं' और समय मिट जाता है।

"क्राइस्ट के अनुसार भी समाधि के अनुभव में टाइम (समय) नहीं रहता। वहां 'अतीत', 'भविष्य' नहीं होता, केवल शुद्ध 'वर्तमान' रहता है। काम-सम्भोग में भी समय विलीन हो जाता है, भूत-भविष्य कुछ भी नहीं रहता। अहंशून्यता, कालातीतता धार्मिक अनुभूति के लिए सर्वाधिक तत्त्व है। इसी के लिए मनुष्य आतुर रहता है। यह आतुरता या पागलपन पुरुष को स्त्री-शरीर के लिए नहीं और न स्त्री को पुरुष शरीर के लिए है। यह आतुरता अहंकार-शून्यता एवं समय-शून्यता के अनुभव के लिए ही है। अहंकार मिटने की आत्मा की झलक, परमात्मा की अनुभूति मिलती है। यह घटना एक क्षण की होती है, लेकिन उसी के लिए मनुष्य कितनी ही ऊर्जा, कितनी शक्ति खोने को तैयार रहता है। शक्ति खोने के कारण पछताता है कि शक्ति का अपव्यय हुआ। जितनी शक्ति-क्षय होती है, उतनी ही मौत समीप आती है, कालान्तर में वही आतुरता सवार हो जाती है।

"निश्चय ही सेक्स की आतुरता में कोई धार्मिक अनुभव है। उस अनुभव को अगर हम समझ पायें तो सेक्स के ऊपर उठ सकते हैं। न देख पायें तो हम सेक्स में ही जियेंगे, उसी में मरेंगे। उस अनुभव को पहचानना जरूरी है। अन्धेरी रात में बिजली चमकती है, पर रात का अन्धकार ही बिजली नहीं है। सेक्स का अनुभव स्वयं कालातीत है। उसकी भिन्नता और स्वरूप समझकर उसे उसके वास्तविक आयाम में खोजा जा सकता है। सम्भोग का आकर्षण क्षणिक समाधि के लिए है। उस दिन प्राणी काम से मुक्त हो जायगा, जब बिना सम्भोग के भी समाधि लगनी शुरू हो जायगी। सेक्स जो अनुभव लाता है, वह अगर अन्य मार्गों से उपलब्ध हो सके तो आदमी के चित्त का सेक्स की तरफ बढ़ना अपने आप बन्द हो जाता है। फिर उसका चित्त एक नई दिशा में ही गति शुरू कर देता है। जगत् में सबसे पहला समाधि का अनुभव सेक्स से उपलब्ध हुआ, पर वह अनुभव बड़ा

महँगा है। साथ ही वह अनुभव कभी एक क्षण से ज्यादा गहरा नहीं हो सकता। एक क्षण की झलक के बाद हम वापस अपनी जगह पहुँच जाते हैं। एक क्षण को किसी लोक में हम उठ जाते हैं।

"जैसे समुद्र की लहरें आकाश में उठती है, उठ भी नहीं पातीं, पहुँच भी नहीं पातीं और गिरने लगती हैं। अगर सागर की लहर बर्फ का पत्थर बन जाय, जम जाय तो उसे नीचे गिरने की कोई जरूरत नहीं। जब तक चित्त सेक्स की तरलता में बहता है तब तक वापस उठता और गिरता है। जिस अनुभव के लिए इतना तीव्र आकर्षण है, उसमें अहंकार-शून्यता, समयशून्यता हाथ में आती भी हैं और नहीं भी।"

"स्वयं को, सत्य को; मौलिक शक्ति को, अनन्त-अनादि को जान लेना मुख्य पुरुषार्थ है। उसे जानने और पाने की चेष्टा से सारा जगत् काम-केन्द्र पर घूमता है। अगर हम घटना के विरोध में खड़े हो जायँ, तो काम-सेक्स हमारी चेतना का केन्द्र बन जाता है। फिर हम उसे मुक्त नहीं हो सकते, हम उससे बँध जाते हैं।"

स्पष्ट रूप से, खुले मस्तिष्क से काम-पक्ष की बात का ठीक-ठीक विचार कर लेने पर विद्वानों को यह स्पष्ट विदित होगा कि उपर्युक्त बातें तथ्यहीन हैं। कारण, ऐसी निरहंकारता और समशून्यता प्रत्येक व्यक्ति को निद्राकाल में मिलती ही रहती है। सुषुप्ति में भी अहंकार नहीं होता, समय का भान नहीं होता। स्पष्ट है कि 'मैं सुखपूर्वक सो रहा था; मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था' ऐसा जाग्रत्काल में स्मरण होता है और स्मरण बिना अनुभव के नहीं हुआ करता। अत: तर्क से कहा जा सकता है कि सुषुप्ति में अहंकार और समय का भान रहता ही है वस्तुस्थिति यह है कि जैसे रूपादि धर्मों के अनुभव के बिना घटादि धर्मों का अनुभव नहीं होता, वैसे ही अहंकार का अनुभव भी सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्मों के अनुभव के बिना नहीं हो सकता। परन्तु सुषुप्ति में सुख-दुःख, इच्छादि का अनुभव नहीं होता, यह सर्वसम्मत है। फिर धर्म के बिना धर्मी अहंकार का भी अनुभव कैसे हो

सकता है? जाग्रत्काल के स्मरण में जो अहंकार का भान हो रहा है, वह अनुभव ही है, स्मरण नहीं। स्मरण तो केवल सौषुप्त अज्ञान एवं सौषुप्त सुख का ही है। अत: अहंकारशून्यता सुषुप्ति में होती है।

इसी तरह जाग्रत् और निद्रा दोनों अवस्थाओं के बीच जो सन्धि होती है, उसमें कोई वृत्ति नहीं रहती। वृत्ति न रहने पर प्रमाता और प्रमेय भी प्रतीत नहीं होते। वहाँ भी अहंकार और समय का अभाव रहता है। किंबहुना प्रत्येक दो वृत्तियों के बीच सन्धि का क्षण अहंकार एवं समय से शून्य ही रहता है। वह सर्ववृत्ति-शून्यता है, वह समाधि है, फिर भी उसकी ओर किसका आकर्षण है? और उतने मात्र से कुछ लाभ भी नहीं होता।

भले ही अभ्यास द्वारा यह सन्धिकाल बढ़ा भी लिया जाय तो भी सिवा कुछ निरायासता या शान्ति के कोई परमार्थ-लाभ नहीं होता। परमार्थ-लाभ तो स्वात्म-साक्षात्कार से अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान एवं तत्कृत आवरण की निवृत्ति होने पर ही होता है। **''पूर्णनास्ति, पूर्ण ब्रह्म न भाति''**–अखण्ड, नित्य, परिपूर्ण ब्रह्म नहीं है और वह भासमान नहीं है, ये ही असत्त्वापादक और अभानापादक दो आवरण हैं। **''पूर्ण ब्रह्मास्ति, पूर्ण ब्रह्म भाति''** ऐसे बोध से ही आवरण भङ्ग होता है। एकाग्रता के बिना चञ्चल मन में दृश्य विकल्प का स्फुरण रहने के कारण निर्विकल्प अखण्ड भानरूप तत्त्व का स्फुरण नहीं हो पाता। तदर्थ ही वृत्तिनिरोध या वृत्ति-शून्यता अपेक्षित होती है। महावाक्य-सहकृत एकाग्र-मन या एकाग्र मन-सहकृत महावाक्य ही ब्रह्मप्रमा में प्रमाण है। प्रमाण के बिना ब्रह्म साक्षात्काररूप प्रमा कभी नहीं होती।

न केवल कामसुख में ही, किन्तु शब्द-स्पर्श आदि से जनित आनन्दों में भी वही स्थिति होती है। कामसुख भी स्पर्शसुख ही है। सभी सुख या आनन्द ब्रह्म के ही विकृत औपाधिक रूप हैं। किन्तु उस क्षणिक आनन्द को ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। हाँ, तृष्णा-व्याकुल, चञ्चल मन को तृष्णास्पद कामित पदार्थ की प्राप्ति से क्षणभर के लिए तृष्णा-निवृत्ति होने से चित्त

शान्त, अन्तर्मुख-सा हो जाता है। उसी शान्त अन्तर्मुख सात्त्विक चित्त पर ब्रह्मानन्द का प्राकट्य होता है। वही आनन्द है, वही सुख है। क्षणान्तर में ही पुनः तृष्णान्तर की उत्पत्ति हो जाती है और मन में पुनः विषयान्तरों की स्फूर्ति होने लगती है। अतः उसका प्राकट्य भी तिरोहित हो जाता है।

सम्भोग-काल में अहंकारशून्यता होती ही नहीं, तभी तो "**सम्भोग सुखमहमनुभवामि**"—'मैं सम्भोग सुख का अनुभव करता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। '**अहमिदानीं सुखमनुभवामि**''–मैं इस समय सुख का अनुभव करता हूँ' इस प्रकार अहंकार एवं समय दोनों का ही भान सुखानुभव काल में होता है। अतएव सम्भोग-काल में समाधि की बात सोचना भ्रम ही है। ब्रह्मानुभव की कल्पना भी निराधार ही है। अतः 'काम की आतुरता समाधि-सुख के लिए आतुरता है' यह कहना भी गलत है। संसार के कोई भी कामसेवी कामसेवनमात्र से समाधि-सम्पन्न नहीं होते।

"सेक्स के विरोध में खड़े होने से सेक्स ही चेतना का केन्द्र बन जाता है। कोशिश से बँध जायँगे।" यह कहना भी गलत है; क्योंकि काम का विरोध न करने का अर्थ है, उसे स्वीकार करो। जहाँ भी, जिस समय भी काम प्रवृत्त होता हो वहाँ उसे प्रवृत्त होने दो। तब तो उच्छृङ्खल काम-चेष्टा होगी। फिर तो गम्यागम्य का विचार कैसे रहेगा और पशुता और मानवता में अन्तर भी क्या रहेगा?

काम स्वयं सीमित नहीं होता। उसे कामसेवी को ही नियन्त्रित करना पड़ता है। वह एक, दो दश या सहस्र स्त्रियों में भी सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे बहु-घृताहुति से भी अग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही अनेक स्त्रियों के सम्पर्क से पुरुष को एवं अनेक पुरुषों के योग से स्त्री को भी शान्ति नहीं होती। जैसे खुला पशु एक खेत के शस्य खाने से सन्तुष्ट नहीं होता, वह निरन्तर बढ़ता है और नया-नया चारा चाहता है। किन्तु उसी को जब सीमित रस्सी से बाँध दिया जाय तो वह उतने में ही पेट भर लेता है। यही स्थिति काम की है। यदि उसे छूट हो, नये-नये उत्तमोत्तम विषय मिलते आयें तो वह बढ़ता ही

जायगा। यदि कुछ बन्धन डाला जाय, सीमा बाँधी जाय तब तो फिर वही निषेध की बात; विरोध की बात आ जायगी, जिससे आप भागना चाहते है।

"भूख के दबाने से भूख जोर पकड़ती है और प्राणी न खाने योग्य फूल आदि को भी खाने लगता है।" यह कहना भी निःसीम नहीं है। उपवास के अभ्यासी कई दिनों तक भोजन-चिन्ता के बिना भी रह सकते है। सामान्यतया एकादशी के कई व्रती एकादशी के दिन भोजन का ध्यान भी नहीं करते, करते भी हैं तो बहुत कम।

गीताप्रेसवालों के सम्पर्क में एक ऐसी भी स्त्री आयी, जो अन्न अथवा जल कुछ भी ग्रहण नहीं करती थी। उसे अन्न-जल की कुछ भी स्पृहा नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त अन्न-जल देह की स्थिति के लिए अत्यावश्यक है। उसके बिना शरीर रह नहीं सकता। अन्नादि छोड़नेवालों की भूख भी कुछ दिनों में मर जाती है और कुछ दिनों में स्वयं भी मर जाते हैं। किन्तु काम या सेक्स ऐसी वस्तु नहीं। काम-सेवन के बिना कोई मरता नहीं। कुछ दिन हठ करके भी काम छोड़ देने से काम की भूख भी मर जाती है और उसके शरीर का कुछ भी नुकसान न होकर शरीर को लोकोत्तर लाभ ही होता है। कामपरायण भी बहुत बार काम-चिन्ता-शून्य होते हैं। कार्यव्यग्रता में ही काम विस्मृति रहती है। क्रोध के वेग में भी काम अकिञ्चित्कर होता है। कितने प्राणी बिना काम के अनेक सहस्र वर्ष भी रह सकते हैं।

इतिहासों में अनेक ऋषियों के कामाक्रान्त होने की कथाएं आती हैं, पर कामसेवन-काल में वे कभी समाधि या आत्मा का अनुभव नहीं कर पाये। विश्वामित्र, च्यवन, कण्डू आदि की कथाएँ भी पुराणों में प्रसिद्ध हैं। जब इन्हें कामसेवन से ग्लानि हुई तभी वे उससे विरत होकर तपस्या और संयम द्वारा ही शान्ति या ब्रह्मसुख का अनुभव कर सके।

एक आदत की बात होती है। अप्राकृत सम्भोग, पुरुषकर्तृक पुरुष-सम्भोग की आदत के कारण ही दुस्त्यज होता है और उसके भी अनेक

विकृतरूप है। यह सब कामसुख-चिन्तन की उल्बणतावश होनेवाली उत्तेजना के ही दुष्परिणाम हैं।

कोई श्वान शुष्क हड्डी का चर्वण करता है। हड्डी की कठोरता से उसके मुख में क्षत होने से रक्तस्राव होने लगता है। यह उसका स्वाद लेने लगता है तो समझता है कि यह स्वाद हड्डी का ही आ रहा है। वह यह नहीं जानता कि यह तो मेरे सुख के क्षत से स्रावित रुधिर का स्वाद है। इसी तरह अपने भीतर की शुक्र जैसी दिव्य धातु के क्षरण का भी सुख स्त्री या पुरुष में भासित होता है। जैसे घृत की आहुति बन्द करने से, अग्नि प्रशान्त हो जाती है, वैसे ही कामसेवन बन्द करने से, उसका चिन्तन एवं विषय-सन्निधित्याग से निश्चय ही काम प्रशान्त हो जाता है। वेश्याओं का विस्तार भी काम के अनियन्त्रण का ही परिणाम है। वह नियन्त्रण का परिणाम नहीं।

"दमन से सेक्स की शक्ति जगह-जगह फूटकर गलत रास्तों से बहनी शुरू हो गयी। सारा समाज रुग्ण हो गया।" यह कहना सर्वथा असत्य है। यह कामशक्ति के निरोध या दमन का परिणाम नहीं। किन्तु काम को खुला छोड़ देने का दुष्परिणाम यह होता है कि मनुष्य भी शृङ्खलाहीन पशु की भाँति ही हो जाता है। फिर तो उसे वेश्या क्या, माँ, बहन और पुत्री से भी परहेज करना असम्भव हो जाता है।

खजुराहो के मन्दिर के चारों तरफ दीवालों के मैथुन-चित्रों का यह भाव किन्हीं लोगों के लिए ग्राह्य हो सकता है। मन्दिर के बाहर की परिधि में काम है। जो अभी काम में उलझे हैं, उन्हें मन्दिर के भीतर प्रवेश का अधिकार नहीं है। ऐसे ही जीवन की बाह्य-परिधि में काम है, भीतर कोई कामप्रियता नहीं है। जीवन के भीतर भगवान् हैं, फिर मन्दिर की बाह्य परिधि में ही भटकने से कोई लाभ नहीं होता। कामप्रतिमाशून्य भीतर भगवान् के दर्शन से भी लाभ होगा। मैथुन के ऊपर ध्यान करने से, काम का चिन्तन करने से, काम की सझदारी में दिन-रात लगे रहने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध

नहीं होगा। उससे होनेवाली क्षणिक शान्ति से उत्तरोत्तर अशान्ति ही बढ़ेगी। इसीलिए धर्म ने उसका नियन्त्रण बताया है।

वस्तुतः दिन-रात प्राणी काम का अनुभव करता ही है। पशु-पक्षियों की कामलीलाओं, मनुष्यों की प्रणयलीलाओं को देखता ही रहता है। उससे शान्ति नहीं होगी तो पाषाणमयी मैथुनमूर्तियों के ध्यान से कैसे शान्ति होगी? जीवन की बाह्य कामपरिधि से हटना ही तो जीवन की आन्तर परिधि में प्रवेश करना है। चित्त तो वही है, उसी चित्त में काम रहता है, उसी में राम रहता है। काम हटेगा, तभी चित्त में राम आयेगा। यद्यपि आँख मींचने पर भी मन में काम-विचार हो सकता है। फिर भी विषय-सन्निधि उससे भी अधिक हानिकारक है। इसीलिए शास्त्रों ने विषय-सन्निधि-त्याग पर बड़ा बल दिया है। विषय-सन्निधि न होने से मन की अन्यमनस्कता होने में कठिनाई नहीं पड़ती। "**कण्टकेन कण्टकोद्धारः**" प्रसिद्ध है। रोचक अन्य विषयों का चिन्तन करने से अन्य चिन्तन रुकता है, यह आये दिन का अनुभव है ही। अतः शुद्ध वातावरण विषय-वर्जित प्रदेश में भगवान् का ध्यान अधिक सुगम है।

❑❑